राजयोग

अर्थात्

मानसिक विकास।

(योगी रामाचारक लिखित अंग्रेजी ग्रन्थ "राजयोग" अर्थात्
Mental Developement का हिन्दी रूपान्तर)

खैरागढ़ुदौली नरेश आनरेबिल श्रीमान् राजा सर रामपालसिंहजू
देव के० सी० आई० ई० के प्राइवेट सेक्रेटरी

ठाकुर प्रसिद्धनारायण सिंह बी० ए०

द्वारा अनुवादित और प्रकाशित।

सन् १९२० ई०
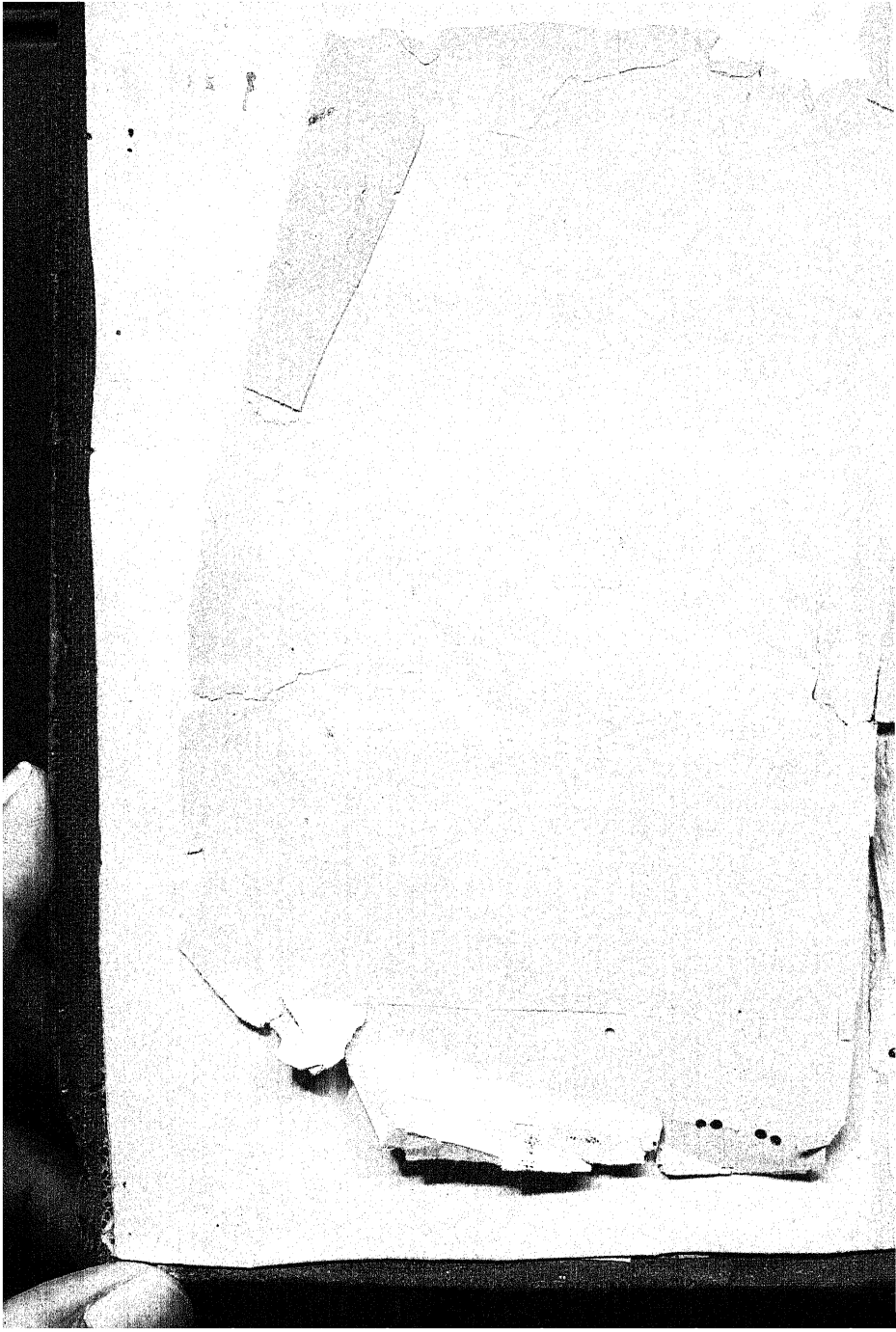
समर्पण

देश के उज्वल रत्न और स्वजाति की आशा के अवलम्ब

श्रीमान् लेफ्टिनेन्ट राजा दुर्गानारायणसिंह जू देव

तिर्वानरेश के कर कमलों में

स्वामिन्,

इसी नववयस्कावस्था मे अनेक शुभगुणों से विभूषित हो श्रीमान् जिस देश का अभ्युदय और निःश्रेयस चाहते रहते हैं और उसके उद्योग में लगे रहते हैं उसी देश के कल्याण के प्रधान साधन इस "राजयोग" को मैं श्रीमान् की सेवा में आन्तरिक श्रद्धा और समादर से समर्पण करता हूँ।

श्रीमान् का भक्त और सेवक

प्रसिद्धनारायण।
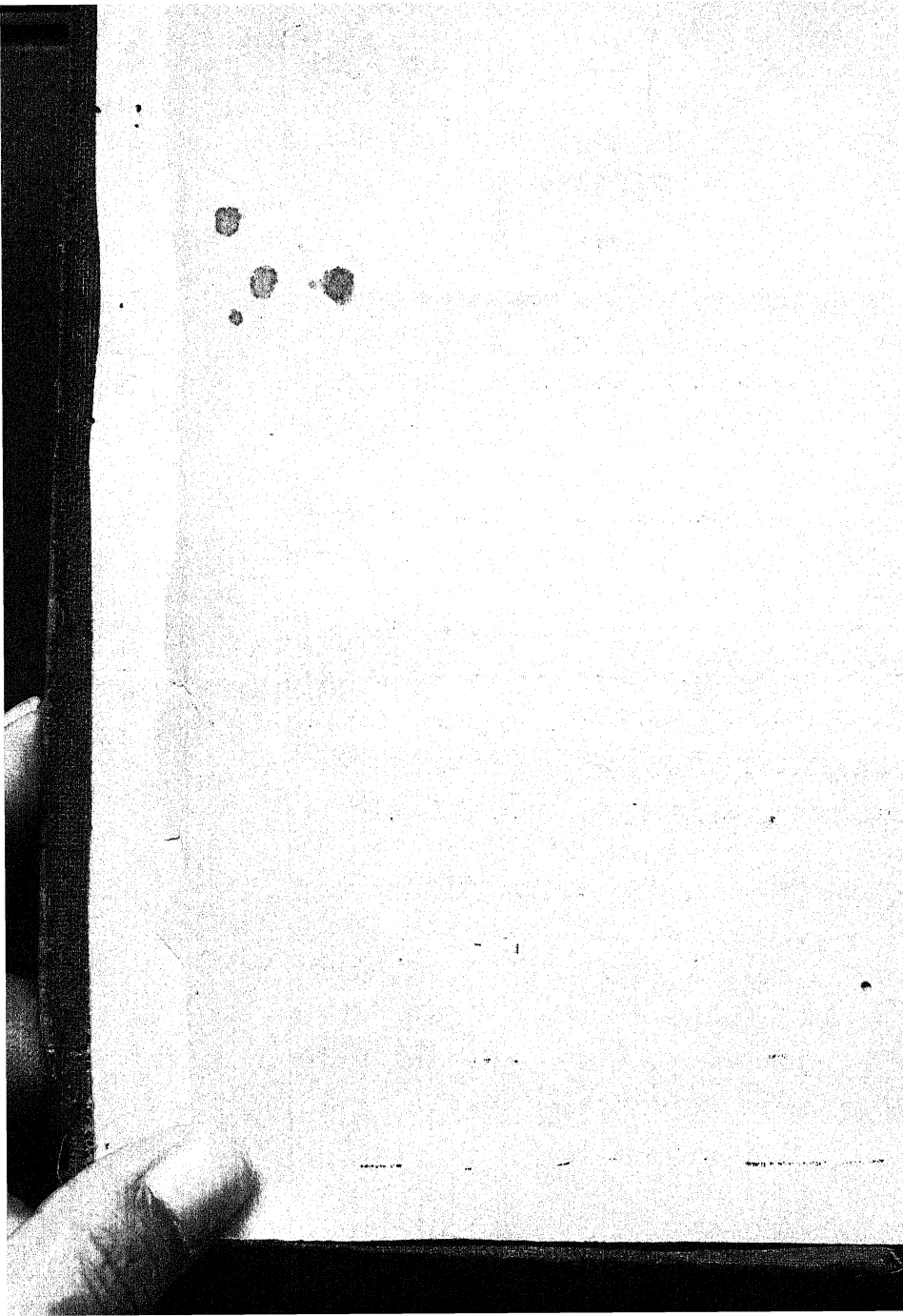
भूमिका।

राजयोग वह विद्या है जिसके अध्ययन और समुचित अभ्यास से मन का यथेष्ट विकास होता है। इसके द्वारा हम अपने मानसिक दूषणों को हटा सकते हैं, मानसिक त्रुटियों की पूर्ति कर सकते हैं और सब प्रकार से मन को प्रबल और शक्तिमान बना सकते हैं।

मन का कार्य केवल इतना ही न समझना चाहिये कि वह केवल संकल्प विकल्प किया करता है या मनमोदक का स्वाद लेता है। नहीं, मन बड़ी भारी सत्ता है। यह आत्मा का आविर्भाव है। व्यष्टि में रासायिनिक संयोग प्रीति (Chemical affinity) से लेकर प्रतिभा और इलहाम (Inspiration) तक इसकी दौड़ है। छोटे से छोटे भौतिक परमाणु जो परस्पर मिल कर अणु बनाते हैं वह इसी मन की क्रिया है। पौधों का उगना, पल्लवित और पुष्पित होना इत्यादि मन ही की क्रिया है। मनुष्य के शरीर में अन्न पाचन, रस, रुधिर, मज्जा, मांस इत्यादि का निर्माण मन ही की क्रिया से होता है। इच्छा, द्वेष राग, रोष, सोचना, विचारना आदि मन ही के खेल हैं। जिसे हम प्रतिभा, इलहाम या इन्सपिरेशन (Inspiration) कहते हैं वह भी मन की उच्च कीर्ति है। संसार का कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसकी उत्पत्ति मन से नहीं हुई है। व्यष्टि के बाहर यही मन समष्टि में भी व्यापक है।

मन दो प्रकार का कहा गया है। चेतन और अचेतन। परन्तु इस विभाग से भी भ्रम उत्पन्न होने की आशंका है। हमारे जीवन की क्रियाएँ तीन श्रेणी में विभक्त हो सकती हैं:- (१) अचेतन क्रियाएँ जो प्रवृत्तिमन (अचेतनमन) द्वारा सम्पादित होती हैं जैसे अन्नपाचन, रुधिररचना, गर्भस्थ बालक का सृजन आदि। (२) चेतन क्रियाएँ जो चेतनमन अर्थात् बुद्धि द्वारा सम्पादित होती हैं जैसे समझना, तर्क करना, स्मरण करना इत्यादि। (३) तीसरे फिर अचेतन क्रियाएँ जो हमारे मन की उच्च भूमिकाओं में हुआ करती हैं पर जिनकी चेतना हमें नहीं होती; और जब कभी संयोगवश हो जाती है तो हम उसे प्रतिभा, इलहाम, अन्त:प्रेरणा, देववाणी आदि अनेक नामों से द्योतन करते हैं।

मन एक महती शक्ति है। पर शोक के साथ कहना पड़ता है कि इस समय मनुष्य समाज मन के साथ जितनी उपेक्षा और लापरवाही करता है उतनी और किसी शक्ति के साथ नहीं करता। हाँ, चेतन मन की शिक्षा के लिये स्कूल और कालेज हैं, पर अचेतन मन की तो कोई खबर भी नहीं लेता। आप लोग इस शास्त्र को पढ़ेंगे और इसका अनुष्ठान करेंगे तो आप पर विदित होगा कि चेतनमन, मन का बहुत ही छोटा अंश है। इसके बड़े बड़े भाग तो चेतनता के नीचे और चेतनता के ऊपर हैं। आप ही बतलाइये चेतनता के नीचे और ऊपर वाले भागों की ओर कौन कानी आँख से भी ताकता है। चेतनता की जड़ भी मन की नीचेवाली अचेतन ही भूमिका में पड़ती है। चेतना की प्रत्येक बात मन की अचेतन भूमिका में अंकुरित

होती है। बीज के जमने की दशा से तो आप लापरवाह रहते हैं, उसके अचेतन मूल में तो आप कोई कार्रवाई नहीं करते, तो फूल पत्तों को सींच कर पौधे को क्या पुष्ट करेंगे अथवा पत्तों को तोड़ कर विषवृक्ष को क्या हटा सकते हैं ?

आपका मन एक जंगली हाथी या घोड़े की भाँति मन-माना विचरा करता है। कीचड़ में फँसे तो आपको परवाह नहीं, काँटों में फँसे तो भी आपको चिन्ता नहीं। चिन्ता हो ही कर क्या करेगी मन तो आपके वश में है ही नहीं। वह आपको लिये हुए मनमानी जगहों में दौड़ा करता है। जब वह कभी आपकी समझ के अनुसार अच्छी जगह ले गया तब तो आप थोड़ा प्रसन्न हो गये, नहीं बुरी खन्दक या जलती आग में ले जाकर झोंक दिया तो सिर धुना कीजिये और चिल्लाया कीजिये।

आजकल के मजहबी आदमी जो भक्त, पंडित और साधु आदि नामों से पुकारे जाते हैं, उन्होंने जब बड़ी अक्लमन्दी दिखाई तो आपको सलाह देते हैं कि मन को मार डालिये, इसे रोक में रखिये। हम पहले ही कह आये हैं कि मन आत्मा का आविर्भाव है। आपकी सामर्थ्य भी है कि इसे मार डालें? अथवा योंही अनजान मनुष्य की भाँति बक उठते हैं। रह गया रोकना सो आकाश और सूर्य की किरणों को पहले तो कोई रोक नहीं सकता, यदि कन्दरा और मंजूषा आदि बनाकर उसमें रहें तो आकाश और प्रकाश में कमी हो सकती है पर इससे उस मनुष्य की हानि कितनी होगी ?

मन मारने और रोकने की चीज़ नहीं है। अपने आपे के वश में करने की चीज है। आप का आपा अर्थात् आत्मा

मन का भी आदि मूल और स्वामी है। यदि मन को कोई वश में कर सकता है तो वही आपा या आत्मा वश में कर सकता है। उस आत्मा के ऊपर तो आपने हजारों मन कूड़ा डाल रक्खा है। वह तो नीचे पड़ा टिमटिमा रहा है उसका आउर्दा मन, जिसका आप कुछ नहीं कर सकते, आपको ऊँचा नीचा दिखा रहा है।

इस राजयोग में उसी आपे को हजारों मन कूड़े के नीचे से निकाल कर ऊपर लाने की विधि बतलाई गई है, मन को पुनः उस आपे के वश में स्थापित करना, इधर उधर बेसमझी की दौड़ में जो मन अंग भंग हो गया है उसके अंगों को दुरुस्त करना, जो इसने पागल की भांति काँट कुराय वाहियात बातें अपने ऊपर रख ली हैं उन्हें साफ करना और जिन अच्छी बातों को भुला दिया है उन्हें सिखाना आदि इस राजयोग में बतलाया गया है। राजयोग द्वारा आप अपने मन रूपी घोड़े को जैसा चाहे वैसा बना सकते हैं और उस घोड़े पर अपने आप को सवार करके आप चाहे जितने शक्तिमान, जितने अद्भुतकर्मा और जितना सुखी हो सकते हैं वह हमारे ऐसे अनुवादक और आप ऐसे पाठक दोनों के वर्णन और समझ से परे की बात है। पर अपनी आन्तरिक प्रेरणा और गुरुजनों के ऊपर श्रद्धा और विश्वास करके राजयोग का अध्ययन और अभ्यास करना परम कल्याणकारक होगा ऐसी कोई वाणी भीतर ही भीतर बोल रही है।

इस ग्रन्थ के प्रत्येक पाठ में पहले तो युक्ति अनेक प्रमाणों द्वारा समझाई गई है फिर अन्त में मंत्र दिये गये हैं। पाठकों

को उचित है कि ध्यानावस्थित हो कर उन्हीं मंत्रों को जपें और उनके अर्थों को मन ही मन चरितार्थ करें। सब सिद्ध हो जावेगा।

मेरे अनुभव में यह बात आई है कि मैंने पहले तो श्वास विज्ञान अर्थात् प्राणायाम नामक किताब में लिखी हुई क्रियाओं का साधन किया, फिर हठयोग नामक ग्रन्थ के लिखे हुए उपदेशों का अनुसरण किया और अब उन दोनों ग्रन्थों के उपदेशों का साधन और अनुसरण करते हुए इस राजयोग का साधन कर रहा हूँ और सन्तुष्ट हूँ। मेरा ख्याल वास्तव वैसा हो गया है जैसा मैंने इस भूमिका में ऊपर लिखा है। मैं और पाठकों के साधन के लिये भी इसी क्रम को अच्छा समझता हूँ। ये सब ग्रन्थ श्रीमान योगी रामाचारक जी के हैं। उन्हीं के अंगरेजी ग्रन्थों का अनुवाद मैंने हिन्दी में किया है। मूल ग्रन्थ मेरे देखने में ऐसे हैं कि उन ग्रन्थों के उपदेशों ही से बिना साक्षात गुरु के भी बहुत काम चल सकता है। मेरा ऐसा विश्वास अब तक बना है। उनके ग्रन्थों के अनुवाद में भी मैंने उन्हीं के भाव को यथासाध्य ज्यों का त्यों हिन्दी भाषा में रखने का यत्न किया है। महात्मा के ग्रन्थ में अपनी अपनी ओर से क्षेपक मिलाने को मैंने बुरा समझा और उस से पृथक् रहा। हां जहां उन्होंने अमेरिकन शिष्यों को सम्बोधन किया है वहां पर मैंने अपने देश भाइयों की ओर इशारा किया है। जहां पर योगी जी ने अनेक पश्चिमी आचार्यों के मतों को उद्धृत करके योग के इन सिद्धान्तों को पुष्ट किया है वहां पर मैंने थोड़े को लिख कर शेष अनावश्यक समझ कर

छोड़ दिया है, क्योंकि मेरे मन में यह बात जमी हुई है कि अमेरिकन लोगों के लिये यह विषय बिलकुल नया है उनके चित्त पर बिठालने के लिये पश्चिमी बहुत से आचार्यों के मत को उद्धृत करना आवश्यक था। मैं तो भारतवासियों के लिये योगी जी के उपदेशों का अनुवाद कर रहा हूँ। भारतवासियों के लिये पश्चिमी विद्वानों की राय का प्रमाण उतना ही आवश्यक है जितना इनके भारतीयपन पर पश्चिमी रंगत चढ़ी है। भारतीय लोग बिलकुल पश्चिमी नहीं हो गये हैं, इस लिये मैंने कुल प्रमाणों का अनुवाद नहीं किया, कुछ छोड़ भी दिये हैं। इसके लिये क्षमा का प्रार्थी हूँ।

एक बात और कहनी शेष है। यह उपन्यास की किताब नहीं है कि एक बार इसे पढ़ कर आप रख दें। मेरा तो यह विश्वास है कि यद्यपि वैसा तो नहीं जैसा भागवत आदि ग्रंथों के विषय में कहा जाता है कि जिस घर में वह पुस्तक रहती है उसका कल्याण हो जाता है, पर इतना तो इस ग्रन्थ के विषय में भी मेरा विश्वास है कि एक बार भी जो मनुष्य इस को मनोयोग से पढ़ जायगा उसके हृदय और मन में इस महामंत्र का बीज वपन हो जायगा और समय आने पर वह अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित ही होगा, तौ भी बार २ मनोयोग देकर पढ़ने से प्रत्येक आवृति में नई नई बातें ज्ञात होंगी। ऐसे शास्त्रों के पढ़ने की उत्तम रीति यह है कि एक बार पढ़ कर कुछ समय का अवकाश दे दें फिर दूसरी बार पढ़ें। इस से बड़ा लाभ होगा। अवकाश देने से अचेतन मन को कुछ भीतरी काम करने के लिये समय मिल जाता है, जैसा कि

आप इसी ग्रन्थ में पावेंगे। मैंने अपना मन अपनी श्रद्धा भक्ति से इसे लिख दिया। आशा है कि आप मुझसे भी अधिक लाभ गुरुजनों के इन उपदेशों से उठावेंगे। सबका अनुभव भिन्न है। परमेश्वर और उसकी लीला "स्वानुभूत्येक सार" है।

प्रसिद्ध साहित्यसेवी लक्ष्मी-संपादक ला० भगवानदीन जी ने इस पुस्तक के संशोधन में बड़ी सहायता दी है, अतः मैं उनको हृदय से धन्यवाद देता हूं।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

जम्मू कौंसिल
शिमला।
९-९-१७

प्रसिद्धनारायण सिंह।
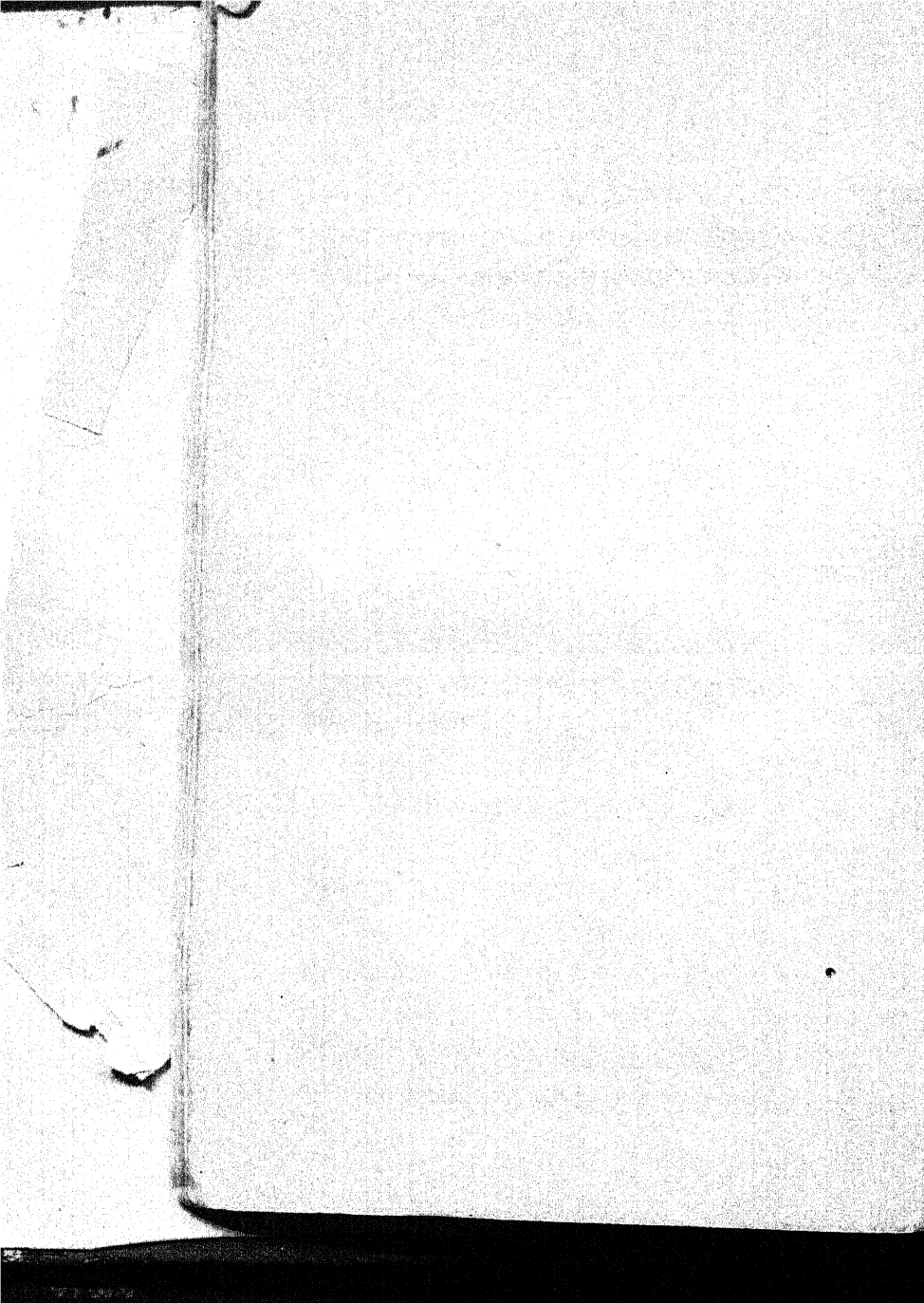
॥ श्रीः ॥

राजयोग

अर्थात्

मानसिक विकास

पहला पाठ

अहम्

भारतवर्ष में राजयोग-विद्या की दीक्षा चाहनेवाले शिष्य-गण जब योगी आचार्य से शिक्षा पाने की अभिलाषा करते हैं तो पहले उनको ऐसे पाठ दिये जाते हैं जिनसे यथार्थ आत्मा की सत्ता के विषय में उनको ज्ञान हो, और उस गूढ़ ज्ञान का उपदेश किया जाता है जिसके द्वारा वे अपने भीतरी "अहम्" के अनुभव और बोध को विकासित पावें। उनको यह बात दिखलाई जाती है कि कैसे वे अपनी असली सत्ता के विषय में अशुद्ध और अपूर्ण ज्ञान को दूर फेंक दे सकते हैं।

जबतक शिष्य इस शिक्षा को अच्छी तरह नहीं सीख जाता या जबतक उसके चित्त में सच्ची बात कम से कम अंकित

नहीं हो जाती तब तक उसे आगे शिक्षा नहीं दी जाती, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि जब तक वह अपनी यथार्थ सत्ता के बोधपूर्वक अनुभव तक नहीं जगता, तब तक वह अपनी शक्ति के उद्गमभंडार को समझने के योग्य नहीं हो सकता, और, इसके अतिरिक्त वह अपने भीतर आकांक्षा की शक्ति को नहीं अनुभव कर सकता, जो शक्ति कि "राजयोग" की सारी शिक्षाओं का आधार रूप है।

योगी आचार्य लोग शिष्य की इस यथार्थ सत्ता विषयिक केवल स्पष्ट बुद्धिगत भावना ही से नहीं सन्तुष्ट होते, परन्तु वे आग्रह करते हैं कि शिष्य उसकी यथार्थता का अवश्य अनुभव करें—असली आत्मा का ज्ञानवान् अवश्य हो जाय—ऐसी चेतना में अवश्य प्रवेश करे जिसमें अनुभव उसके प्रतिदिन के "अहम्" का अंग हो जाय—जिसमें उसके मन में अनुभवी चेतना प्रधान भावना हो जावे, जिसके गिर्द उसके सारे विचार और क्रियायें घूमा करें।

कुछ शिष्यों को तो यह (आत्मा) अनुभव, ज्योंही उधर ठीक ध्यान पहुँच जाता है, बिजली की चमक के समान आता है। अन्य दशाओं में शिष्यों के लिये यह आवश्यक होता है कि कठिन शिक्षा का अनुसरण करें। तब बोध में अनुभव प्राप्त करें।

योगी आचार्य लोग बतलाते हैं कि यथार्थ आत्मा के जागते हुए बोध के दो दर्जे होते हैं। पहला, जिसको 'अहम्' का बोध कहते हैं, असली सत्ता का पूरा बोध है जो शिष्य को प्राप्त होता है, और जो शिष्य को जनाता है कि वह असली

सत्ता है जिसका जीवन इस पार्थिव देह पर नहीं अवलम्बित है—वह जीवन जो शरीर के नाश हो जाने पर भी बना रहेगा वास्तव में असली जीवन है। दूसरा दर्जा जिसको 'अहमस्मि' का बोध कहते हैं वह बोध है जिसमें अपनी सत्ता विश्व सत्ता से मिल कर एक हो जाती है और जिसमें अपना सम्बन्ध और लगाव सारे प्रकट और अप्रकट जीवन से हो जाता है। बोध के ये दोनों दर्जे समय पर उन सब लोगों को मिलते हैं जो पथ की तलाश करते हैं। किसी २ को तो यह एकबएक मिल जाता है, अन्यों को क्रमशः उदय होता है। बहुतों को तो राजयोग के अभ्यासों और क्रियाओं की सहायता से प्राप्त होता है।

योगी आचार्यों की उनके शिष्यों के लिये पहली शिक्षा जो ऊपर लिखे हुये पहले दर्जे तक पहुँचाती है, निम्नलिखित है:—कि विश्व के परम् आत्मा—परब्रह्म ने उस सत्ता को विकसित किया है जिसे मनुष्य कहते हैं—जो इस ग्रह पर ऊँचा से ऊँचा विकाश है। परब्रह्म ने विश्व में जिसमें दूरस्थ जगत्, सूर्य, ग्रह इत्यादि सम्मिलित हैं, जीवन के अनन्त रूपों को विकसित किया है। इन रूपोंमें से बहुत तो इस पृथ्वीपर के हम लोगों को अज्ञात हैं और साधारण मनुष्य की भावना में उनका आना ही असम्भव है। परन्तु इन पाठों से और अध्यात्म-विद्या के उस भाग से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है जो जीवन के इन असंख्य रूपों का वर्णन करती है, क्योंकि हम लोगों का समय तो मनुष्य के मन में उसकी वास्तविक प्रकृति और शक्ति के विकाश में लगाया जायगा। बाह्य जगत् के गूढ़ भेदों के हल करने के पूर्व, मनुष्य को अपने भीतरी जगत् अर्थात् अपने

अहम् के भीतरी राज्य पर अधिकार कर लेना चाहिये। जब वह इस कार्य को कर ले, तब वह बाह्य ज्ञान के प्राप्त करने के लिये आगे बढ़े, जैसे मालिक गूढ़ भेदों को जानना चाहता है, न कि गुलाम की भाँति विद्या के उच्छिष्ट को भिक्षा की भाँति मांगे। शिष्य के लिये पहला ज्ञान आत्मज्ञान होना चाहिये।

मनुष्य, जो इस भूमंडल पर परमात्मा का उच्चातिउच्च विकाश है, अद्भुत रीति से संगठित पदार्थ है। यद्यपि साधारण मनुष्य इसकी वास्तविक प्रकृति का बहुत ही कम ज्ञान रखते हैं। इसकी भौतिक (शारीरिक), मानसिक और आध्यात्मिक बनावटों में ऊँचे से ऊँचे से लेकर नीचे से नीचे पदार्थ सम्मिलित हैं। अपनी हड्डियों में तो वह प्राय: खनिज रूप में विकसित हो रहा है, यथार्थ में उसकी हड्डियों, शरीर और रुधिर में खनिज पदार्थ वस्तुत: मौजूद रहते हैं। शरीर का भौतिक जीवन पौधों के जीवन के समान होता है। शारीरिक अनेक इच्छाएँ और मनोविकार नीच जन्तुओं की इच्छाओं और मनोविकारों के समान होते हैं; और अविकसित मनुष्य में ये इच्छाएँ और मनोविकार प्रवल होकर उच्च भावों को दबा बैठते हैं, जिससे वे कदाचित् ही प्रगट होते हैं। मनुष्य में कुछ मानसिक विशेषताएँ होती हैं, जो केवल मनुष्य ही में पाई जाती हैं, और जो नीच जन्तुओं में नहीं पाई जातीं और उन मानसिक शक्तियों के अलावा जो सब मनुष्यों में पाई जाती हैं, अथवा, जो थोड़ा बहुत सब मनुष्यों में प्रगट हैं, मनुष्य में उच्चतर शक्तियाँ भी दबी हुई पड़ी हैं, जो जब विकसित या प्रगट होती हैं तब मनुष्य को साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कुछ

और भी अधिक बना देती हैं। इन गुप्त शक्तियों का विकाश उन सब मनुष्यों के लिये सम्भव है जो उन्नति के समुचित दर्जे तक पहुँच गये हैं, और शिष्यों की योग-शिक्षा पाने की लालसा, इन्हीं विकसती हुई शक्तियों की प्रेरणा है जो चेतना में प्रगट हुआ चाहती है। तब वह आश्चर्यजनक पदार्थ है जिसे आकांक्षा या दृढ़ संकल्प कहते हैं, जिसे वे लोग बहुत ही कम समझते हैं, जो योगशास्त्र से अनभिज्ञ हैं। यही जीवात्मा की उच्चतम शक्ति है, जो परमात्मा से आदि स्वत्व करके प्राप्त हुई है।

परन्तु यद्यपि ये मानसिक और शारीरिक बातें, मनुष्य से सम्बन्ध रखती हैं, पर ये मनुष्य नहीं हैं। मनुष्य को अपनी वस्तुओं–औजारों और उपकरणों–पर अधिकार, शासन और प्रेरणा चलाने के योग्य होने के पहले, अपने आपे के अनुभव करने में जागृत हो जाना चाहिये। उसको समझ जाना चाहिये कि कौन "अहम्" है और कौन "अहम्" से भिन्न पदार्थ है। यही शिष्य का पहला कार्य है।

वह, जो मनुष्य की आत्मा है, परमात्मिक ज्योति है जो परम पवित्र परमात्मा से निकली हुई है। वह परमात्मा की सन्तान है। वह अमर, अनादि, अनन्त, अविनाशी और अविकारी है। वह अपने में शक्ति, ज्ञान और सत्यता धारण करती है। परन्तु उस बच्चे की भाँति जिसमें पूर्ण भविष्यत् का पूर्ण मनुष्य छिपा हुआ है। मनुष्य का मन अपनी गुप्त और अव्यक्त शक्तियों से अनभिज्ञ है और अपने आप ही को वह नहीं जानता। ज्यों २ यह अपनी वास्तविक प्रकृति के ज्ञान में

विकसित और जागृत होता है, त्यों २ यह अपने गुणों को प्रगट करता है और अनुभव करता है कि परमात्मा से हमें क्या मिला है। जब यथार्थ आत्मा जगने लगती है तब वह अपने ऊपर से उन पदार्थों को पृथक् करने लगता है जो उसके केवल आवरण मात्र हैं, परन्तु जिन्हें वह अपनी अर्द्धजागृत अवस्था में 'अहम्' समझता था। पहले इसको तब उसको पृथक् करते करते वह अंत में उन सब पदार्थों को पृथक् कर देता है जो "अहम्" से भिन्न हैं और अपने वास्तविक आत्मा को आवरणों के बन्धन से छुड़ा कर मुक्त कर देता है। तब फिर वह पृथक् किए हुए आवरणों पर लौट आता है और उन्हें व्यवहार में लाने लगता है।

इस प्रश्न के विचार करने में कि "यथार्थ आत्मा क्या है" पहले आइये इस बात की जाँच की जाय कि जब मनुष्य कहता है कि "हम," तो उसके "हम" का क्या मतलब है।

नीच जन्तुओं में यह "हम" भाव नहीं होता। वे बाहरी दुनिया अपनी कामनाओं, पाशविक इच्छाओं और भावों से तो जानकारी रखते हैं, परन्तु उनकी चेतना स्वचेतना के दर्जे तक नहीं पहुँची रहती। वे अपने को पृथक् व्यक्ति समझने और अपने विचारों पर ध्यान देने की योग्यता नहीं रखते। वे अपनी परमात्मिक ज्योति अहम्—वास्तविक आप की चेतना नहीं रखते। नीच जन्तुओं में यह ज्योति छिपी हुई रहती है। मनुष्य जीवन के भी नीच व्यक्तियों में यह ज्योति अनेक आवरणों के भीतर छिपी रहती है जिनसे उसका प्रकाश बन्द सा रहता है। परन्तु तौ भी

वह वहाँ सर्वदा है अवश्य। वह जंगली मनुष्यों के मन में सोई हुई दशा में है, तब ज्यों २ वह विकसने लगता है त्यों २ वह ज्योति अपना प्रकाश फैलाने लगती है। आप में, ऐ मेरे शिष्य, वह ज्योति अपनी किरणों के भौतिक आवरणों को पार कर डालने की प्रबल चेष्टा कर रही है। जब वास्तविक आपा अपनी निद्रा से अपने को जगाने लगता है तब उसके स्वप्न गायब होने लगते हैं और तब वह जगत को यथार्थ रूप में देखने लगता है और अपने को यथार्थ रूपमें में अनुभव करने लगता है और स्वप्नावस्था के अपने विकृत रूप को छोड़ देता है।

जंगली और मूर्ख मनुष्य अपने "अहम्" का बहुत ही थोड़ा ज्ञान रखते हैं। चेतना के विचार से वे नीच जन्तुओं की अपेक्षा थोड़े ही ऊंचे होते हैं। उनका "अहम्" बिलकुल शारीरिक आवश्यकताओं, उनकी पूर्ति, वासनाओं की तृप्ति, शारीरिक सुख का लाभ, भोग और बल के प्रयोग इत्यादिसे युक्त हुआ करता है। ऐसे मनुष्यों में "अहम्" की बैठक प्रवृत्तिमानस के निचले भाग में हुआ करती है। यदि ऐसा जंगली मनुष्य अपने विचारों को मनन कर सकता तो वह यही कहता कि "अहम्" भौतिक शरीर है जिसमें कतिपय वेदनाएँ, भूख और कामनाएँ हुआ करती हैं। ऐसे मनुष्य का अहम् भौतिक "अहम्" है और देह ही रूप और सत्ता सब कुछ है। यह बात केवल जंगली ही मनुष्य के विषय में नहीं है, किन्तु आजकल के कहने के लिये सभ्य मनुष्यों में भी बहुत से मनुष्य इसी श्रेणी के हैं। इन लोगों ने सोचने

विचारने की शक्तियों को तो जगा लिया है, परन्तु ये लोग अपने अन्य भाइयों की भांति अपने मानस लोक में नहीं रहते। ये लोग अपने सोचने विचारने की शक्ति को केवल शारीरिक कामनाओं और भूखों की तृप्ति के लिये प्रयुक्त करते हैं और वस्तुतः प्रवृत्ति-मानस ही के लोक में रहते हैं। ऐसा मनुष्य जब कहता है कि "मेरा मन,' या "मेरा जीव" तो वह उस उच्चस्थिति से नहीं कहता जहाँ से कि वह उन आचार्यों की दृष्टि से इन सांसारिक पदार्थों को देख सकता था जो आत्मानुभव किये हुए हैं, किन्तु वह नीचस्थिति से उस मनुष्य की दृष्टि से देखता है जो प्रवृत्तिमानस के लोक में रहता है और जो उच्च गुणों को अपने से बहुत ऊपर देखता है। ऐसे मनुष्यों के लिये शरीर ही "अहम्" है। उनके अहम के गिर्द केवल इन्द्रियाँ और इन्द्रियजन्य भोग हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ज्यों २ मनुष्य शिष्टता और सभ्यता में आगे बढ़ता है त्यों त्यों उसकी इन्द्रियां भी शिक्षित होती जाती हैं और केवल अधिक संशोधित चीजों से तृप्त होती हैं, और जो मनुष्य अल्पशिक्षित है उसकी इन्द्रियाँ अधिक स्थूल और भद्दे भोगों ही से तृप्त हो जाया करती हैं। जिसको हम शिष्टता और सभ्यता कहते हैं उसका अधिकांश भाग इसी इन्द्रिय भोग ही के संशोधित रूप का उपजाना है, न कि चेतना और विकाश में वास्तविक उन्नति करना। यह सच है कि बड़े २ गुरुओं और शिष्यों की इन्द्रियां ऊंचे दर्जे तक विकसित हुआ करती हैं, यहाँ तक कि कभी २ साधारण मनुष्यों की इन्द्रियों से बहुत ही अधिक आगे बढ़ जाती हैं,

परन्तु ऐसी दशाओं में इन्द्रियों की शिक्षा आकांक्षा की अध्यक्षता में होती है और इन्द्रियाँ जीव की सेविका बनाई जाती हैं और न कि जीव की गति में बाधा पहुँचाने वाली हों। वे सेविका बनाई जाती हैं न कि स्वामिनी।

ज्यों २ मनुष्य उन्नति करने लगता है त्यों २ उसके "अहम्" की भावना उच्च और उच्च होने लगती है। वह अपने मन और बुद्धि का व्यवहार करने लगता है और तब वह मानसलोक में पहुँचता है—उसका मन बुद्धिलोक में भी प्रगट होने लगता है। उसको ऐसा मालूम होने लगता है कि हममें ऐसी कोई चीज़ है जो शरीर से बढ़ कर है। उसको जान पड़ने लगता है कि उसकी देह के अंगों की अपेक्षा उस का मन ही अधिक असली वस्तु है, और वह गंभीर विचार और अध्ययन के समयों में शरीर के अस्तित्व को प्रायः भूल जाने के योग्य हो जाता है।

इस दूसरी श्रेणी में मनुष्य शीघ्र आकुल हो उठता है। उसके सम्मुख ऐसे २ प्रश्न आने लगते हैं जिनका उत्तर आवश्यक होता है। परन्तु ज्योंही वह समझने लगता है कि मैंने उत्तर दे दिया त्योंही वे प्रश्न नये ढंग में आ उपस्थित होते हैं और तब उसे अपने उत्तर की भी व्याख्या करनी पड़ती है। मन यद्यपि आकांक्षा के शासन और उसकी प्रेरणा में नहीं रहता तौ भी इसकी दौड़ आश्चर्यजनक दूरी तक होती है, तिस पर भी मनुष्य को जान पड़ता है कि हम एक ही वृत्ताकार मार्ग में बार बार घूम रहे हैं, और वह अनुभव करने लगता है कि उसका लगातार अज्ञात से सामना

हो रहा है। इससे वह घबड़ा जाता है; और ज्यों २ वह अधिक २ किताबी ज्ञान हासिल करता है त्यों २ उसकी घबराहट और भी बढ़ती जाती है। "श्रुति पुराण कह बहुत उपाई; छुटै न अधिक अधिक अरुझाई"। थोड़े ज्ञान का मनुष्य उन प्रश्नों को नहीं देख पाता जो अधिक ज्ञानवाले मनुष्यों के ध्यान के सम्मुख उपस्थित होते हैं और उनसे उत्तर मांगा करते हैं। जिस मनुष्य की मानसिक वृद्धि इस दर्जे तक पहुँच जाती है कि उसके मन में नये २ प्रश्न उठने लगते हैं जिनका उत्तर असम्भव होता है, उसकी विपत्ति की कल्पना उस मनुष्य से नहीं हो सकती जो उस दर्जे तक पहुँचा ही नहीं है।

चेतना की इस श्रेणी तक पहुँचा हुआ मनुष्य अपने "अहम्" को एक मानसिक वस्तु समझता है जिसके एक नीचा संघाती है जिसे शरीर कहते हैं। वह जानता है कि हम आगे बढ़े हुए हैं परन्तु तौ भी उसका "अहम्" उन पहेलियों और प्रश्नों का उत्तर नहीं देता जो उसे व्याकुल किये रहते हैं। वह अत्यन्त दुःखी रहता है। ऐसे मनुष्य बहुधा दुःखदर्शी हुआ करते हैं, और सारे जीवन को बिलकुल बुरा और निराशा-जनक-विपत्ति न कि सुखमय-समझते हैं। दुःखदर्शिता इसी लोक की चीज़ है, क्योंकि मनुष्य के दैहिक और आध्यात्मिक दोनों लोकों में यह दुःखदर्शिता नहीं पाई जाती। पहले प्रकार के मनुष्यों को ऐसे अशान्तिकारी विचार नहीं आते, क्योंकि वे अपनी पाशविक प्रवृत्तियों की तृप्ति में लगे रहते हैं, और पिछले प्रकार के आध्यात्मिक मनुष्य अपने मन को

जाय परन्तु रास्ते में जहाँ तक प्राप्ति होगई फिर उसका वास्त-विक खो देना नहीं हो सकता।

यह "अहम्" चेतना उच्चातिउच्च श्रेणी में भी उस अवस्था का जिसे "आत्मोदय" कहते हैं प्रथम चरण मात्र है। यह अवस्था इस बात का द्योतन करती है कि (दीक्षित) अभ्यासी पूर्ण के साथ वास्तविक सम्बन्ध के अनुभव में जाग रहा है। "अहम्" की ज्योति का पूरा दृश्य "आत्मोदय" के प्रकाश का प्रतिबिम्ब मात्र है। वह शिष्य जो एक बार पूर्ण रीति से "अहम्" चेतना में प्रवेश पा जाता है वह दीक्षित हो जाता है। और दीक्षित जो "आत्मोदय" के प्रकाश में प्रवेश पाता है वह गुरुआई के मार्ग पर प्रथम चरण रखता है। जीव का अपनी वास्तविक सत्ता के ज्ञान में जग जाना दीक्षा है—जीव की वास्तविक प्रकृति और पूर्ण के साथ उसके सम्बन्ध का विकाश होना आत्मोदय है। "अहम्" चेतना का जब पहला प्रकाश प्राप्त हो जाय तब शिष्य और २ ऊंचे दर्जों की चेतना के विकाश की साधना को ग्रहण करने की अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है, अपने भीतर की गुप्त शक्तियों को व्यवहार में लाने के लिये अधिक योग्य हो जाता है। वह अपनी मानसिक अवस्थाओं पर अधिक अधिकार पा जाता है; वह चेतना और प्रभाव का केन्द्र प्रगट कर देता है जो उसे बाह्य जगत पर प्रकाश डालता है जो ऐसे केन्द्रों की खोज में रहता है कि उन केन्द्रों के गिर्द घूमा करे।

मनुष्य को अपने से बाहर की चीजों पर प्रभाव डालने की आशा करने के पहले अपने ऊपर प्रभाव डाल लेना चाहिये

अर्थात् अपने ऊपर अधिकार कर लेना चाहिये। विकाश और शक्ति के लिये मुफ्त का कहीं भण्डार नहीं खुला हुआ है, क्रमश: एक २ पग चलना पड़ेगा; प्रत्येक शिष्य को स्वयम् अपने पैरों चलना होगा और अपने ही हाथों प्रयत्न करना पड़ेगा। परन्तु उसे उन गुरुओं द्वारा सहायता मिल सकती है और मिलेगी भी जो उसके पहले रास्ता तय कर चुके हैं और जो जानते हैं कि कहाँ शिष्य को खड़बड़ जगहों पर सहायता देने की आवश्यकता होगी।

हम शिष्य को नीचे लिखी हुई शिक्षा पर पूरा ध्यान देने का आग्रह करते हैं, क्योंकि यह शिक्षा बहुत ही आवश्यक बात है। इसके किसी भाग को तुच्छ मत समझो, क्योंकि हम तुम्हें वही बात बतला रहे हैं जो अत्यन्त आवश्यक है और उसे भी यथासाध्य संक्षेप में कह रहे हैं। ध्यान दो और उपदेश को सावधानी से समझो। आगे बढ़ने के पहले इस पाठ को अच्छी तरह सिद्ध कर लेना होगा। इसका अभ्यास केवल अभी ही नहीं करना पड़ेगा, परन्तु यात्रा के अनेक दर्जों तक यही अभ्यास चला जायगा जबतक तुम्हें पूरी दीक्षा और पूरा आत्मोदय प्राप्त न हो जाय।

शिष्य की दीक्षा में सहायता पहुँचाने के लिये विधियाँ और अभ्यास।

दीक्षा की पहली शिक्षा का यह अभिप्राय है कि "अहम्" के व्यक्तित्व की चेतना का पूरा अनुभव मन में जगा दिया जाय। शिष्य को यह उपदेश दिया जाता है कि वह अपने

शरीर को ढीला कर दे, मन को शान्त कर दे, और "अहम्" का ध्यान करे जब तक वह चेतना के सम्मुख साफ़ २ उपस्थित न हो जाय। यहाँ पर हम ऐसे उपदेश देते हैं जिनसे शरीर और मन की ऐसी दशा उत्पन्न हो जावे जिसमें ध्यान और एकाग्रचित्तता का अभ्यास सरलतापूर्वक हो सके। आगे के अभ्यासों में इसी ध्यानावस्था का उल्लेख किया जावेगा, इस लिये शिष्य को उपदेश दिया जाता है कि इससे अच्छी तरह अभिज्ञ हो जाय।

ध्यानावस्था। यदि सम्भव हो तो शान्त स्थान या कोठरी में चले जाओ, जहाँ बाधा पहुँचने का भय न हो, जिससे तुम्हारा मन निर्द्वंद्व और विश्राम में रहे। यद्यपि नितान्त आदर्श अवस्था सर्वदा नहीं प्राप्त हो सकती, तो भी जहाँ तक हो सके इसके प्राप्त करने की चेष्टा करो। अभिप्राय यह है कि तुम जहाँ तक हो सके, एकाग्रचित्त हो सको, चित्त इधर उधर आकर्षित न हो, और तुम केवल अपने आपे के साथ हो जाओ—अपने यथार्थ आपे के साथ जुट जाओ।

अच्छा होगा कि तुम सुख आसन से बैठ जाओ या चारपाई पर पड़ जाओ, जिससे तुम अपनी मांस पेशियों को ढीला कर सको और अपनी नाड़ियों को तनाव से रहित कर सको। तुम्हें सारे शरीर को ढीला कर देना चाहिये, प्रत्येक मांस पेशी शिथिल हो जावे। जब तक तुम्हारे शरीर के प्रत्येक कण में पूरी और विश्राममय शान्ति का अनुभव न होने लगे। शरीर को विश्राम और मन को शान्ति दो। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस दशा का लाना बहुत ही अच्छा होता है।

जब शिष्य को कुछ २ अभ्यास हो जाता है तब वह शारीरिक शिथिलता और मानसिक शान्ति को, जब कभी और जहाँ कहीं वह चाहे, प्राप्त कर सकता है।

परन्तु उसको इस बात से सावधान रहना चाहिये कि स्वप्न की दशा की भाँति अपने कामों में न रहे कि जब उसे अपने जीवन के कामों में लगना चाहिये तब भी ध्यान ही में निमग्न रहा करे। इस बात को स्मरण रक्खो कि ध्यानावस्था को भी अपनी आकांक्षा के पूरे वश में रखना चाहिये, और इसको अपने ठीक समय पर इच्छापूर्वक लाना चाहिये। आकांक्षा इस दशा पर भी वैसा ही अधिकार रक्खे जैसा अन्य मानसिक दशाओं पर रक्खे। दीक्षित (योगाभ्यासी) लोग सर्वदा ध्यानावस्थित ही नहीं रहा करते परन्तु वे ऐसे पुरुष और स्त्री होते हैं जो अपने ऊपर, अपनी वृत्तियों के ऊपर अधिकार रखते हैं। जब "अहम्" चेतना, ध्यान और अनुभव द्वारा विकसित होता है तब बहुत जल्द वह चेतना का एक अंग होजाता है और उसे फिर ध्यान द्वारा उत्पन्न करना नहीं पड़ता। संकट, संशय और दुःख के समय में आकांक्षा के प्रयत्न द्वारा चेतना को, बिना ध्यानावस्था में गये ही, जागृत कर सकते हैं, जैसा आगे के पाठों में समझाया जायगा।

"अहम्" का अनुभव। शिष्य को "अहम्" की यथार्थ प्रकृति के समझने के पहले "अहम्" की यथार्थता से अभिज्ञ हो जाना चाहिये। यही पहला चरण है। शिष्य ध्यानावस्था में हो जाय, जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। तब वह अपने सारे ध्यान को अपने ख़ास आपे पर लगावे और बाह्य जगत

और अन्य मनुष्यों की चिन्तना को न आने दे। अपने मन में वह अपने आपे के वास्तविक पदार्थ की भावना करे कि—आपा वस्तुतः एक पदार्थ है—एक व्यक्तिगत सत्ता है-एक सूर्य है जिसके चारों ओर संसार चक्र की भांति घूम रहा है। उसको अपने तई केन्द्र रूप देखना चाहिये जिसके गिर्द सम्पूर्ण संसार घूम रहा है। इस भावना में नम्रता और त्रुटियों को हस्तक्षेप मत करने दो (कि हम सारे जगत् का केन्द्र कैसे बनें ?) क्योंकि तुम दूसरों को केन्द्र बनने की भावना करने से तो रोकते नहीं हो। तुम वस्तुतः चैतन्यता का केन्द्र हो—परब्रह्म ही ने ऐसा बनाया है-और तुम उसी बात के ज्ञान में अब जाग रहे हो। जब तक जीव अपने को विचार, प्रभाव और शक्ति का केन्द्र नहीं अनुभव करता तब तक वह इन गुणों को प्रगट नहीं कर सकता। और ज्यों २ वह अपने को केन्द्र अनुभव करने लगता है त्यों २ इन गुणों का द्योतन भी करता है। यह आवश्यक नहीं है कि तुम अपनी तुलना औरों के साथ करो या अपने को उनसे बड़ा या ऊंचा कल्पित करो। सच बात तो यह है कि ऐसी कल्पनाएँ खेदजनक और उन्नत जीव के लिये अयोग्य हैं, क्योंकि इनसे विकाश के स्थान पर विकाश का अभाव द्योतित होता है। ध्यान में दूसरों के गुणों को केवल भुला दो और इसी बात के अनुभव करने की चेष्टा करो कि तुम चेतना का बड़ा केन्द्र हो-शक्ति का केन्द्र हो-प्रभाव का केन्द्र हो—विचार का केन्द्र हो। और जैसे ग्रह लोग सूर्य के चारों ओर घूमा करते हैं वैसे ही तुमारा संसार भी तुमारे गिर्द घूमता है-तुम्ही केन्द्र हो।

यह आवश्यक नहीं है कि इस विषय में आप अपने मन में तर्क वितर्क करें अथवा बुद्धि द्वारा इसकी सचाई की प्रतीति पाने की चेष्टा करें। इस प्रकार ज्ञान नहीं प्राप्त होता। यह तो चित्त की एकागृता और ध्यान द्वारा शनैः २ क्रमशः चेतना पर उदय होता है और उसी प्रकार शनैः २ उसका अनुभव होने लगता है। इस बात को सर्वदा अपने ध्यान में रक्खो कि मैं "चेतना—प्रभाव—शक्ति" का केन्द्र हूँ, यह गूढ़ तत्व है, ज्यों २ तुम इस भावना के अनुभव करने के योग्य होते जाओगे त्यों २ इन गुणों को प्रगट करते जाओगे।

चाहे आपकी स्थिति कितनी ही नीची क्यों न हो—चाहे आपके ऊपर कितना ही कठिन समय क्यों न बीतता हो—चाहे आपको कितनी ही कम शिक्षा क्यों न प्राप्त हुई हो—तौ भी आप अपने "अहम्" को बड़े से बड़े भाग्यमान, चतुर से चतुर मनुष्य, और ऊंचे से ऊंचे पुरुष या स्त्री के "अहम्" के साथ बदलना न चाहेंगे। आप इस बात में सन्देह करेंगे, परन्तु क्षण भर ध्यान पूर्वक विचार कीजिये तो आप हमारे कथन को सत्य मान लेंगे। जब आप कहते हैं कि हम अमुक पुरुष हुआ चाहते हैं, तब आपका वास्तविक अभिप्राय यह रहता है कि आप उस पुरुष के समान चातुरी, शक्ति, विभव, पदवी इत्यादि चाहते हैं। आप उसीके गुणों या विभवों को या उन्हीं के समान कुछ चाहते हैं। परन्तु आप अपने आप को उसके आपे में लय कर देना क्षणमात्र को भी न चाहेंगे, और न अपने आपे को उसके आपे से बदलना चाहेंगे। इस बात को तनिक सोच लीजिये। दूसरा मनुष्य होने में तुम्हें

अपने को मर जाने देना होगा तभी अपने स्थान पर तुम दूसरा हो सकोगे। असली तुम "अस्तित्व" से नष्ट हो जाओगे और तब तुम "तुम" न रह जाओगे किन्तु "वह" हो जाओगे।

यदि आप इस भाव को समझ जायेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि आप ऐसा परिवर्तन एक क्षण को भी स्वीकार न करेंगे। ऐसा परिवर्तन असम्भव है। आपका "अहम्" कभी विनष्ट नहीं हो सकता। वह सनातन है और सर्वदा वह आगे और ऊंचे बढ़ता रहेगा—परन्तु वह सर्वदा वही "अहम्" बना रहेगा। ठीक वैसे ही जैसे आप, यद्यपि अपने लड़कपन की अवस्था से अब बहुत ही भिन्न हो गये हैं, अब भी अनुभव करते हैं कि आप वही आप हैं जो अपने लड़कपन में थे और आप सर्वदा रहे हैं। यद्यपि आप ज्ञान, अनुभव, शक्ति और चातुर्य्य भविष्यत् में प्राप्त करते रहेंगे परन्तु वही "अहम्" बना रहेगा। "अहम्" परमात्मा की ज्योति है, वह कभी बुझ नहीं सकती।

मानव जाति के विकाश की वर्तमान अवस्था में अधिकांश मनुष्य इस "अहम्" की यथार्थता की बहुत ही धुँधली भावना रखते हैं। वे इसके अस्तित्व के कथन को स्वीकार करते हैं और अपना ज्ञान केवल इतना ही रखते हैं कि हम खा रहे हैं, सो रहे हैं, जा रहे हैं—कुछ उच्च जन्तु की भांति हैं। परन्तु वे "अहम्" की चेतना अथवा अनुभव में अभी नहीं जगे हुए हैं। यह बात सबको अवश्य उस समय प्राप्त होगी जब वे प्रभाव और शक्ति के वस्तुतः केन्द्र हो जावेंगे। कोई २ मनुष्य अज्ञात ही में इस चेतना में, या

इसकी किसी श्रेणी में पड़ गये हैं और इसको समझ नहीं सके हैं। यह बात अच्छी नहीं है, क्योंकि बिना समझे हुए इस चेतना में जग उठने से उस मनुष्य को और औरों को भी कष्ट और दुःख हो सकते हैं।

शिष्य को "अहम्" का ध्यान करना होगा और ऐसा समझना, और अनुभव करना होगा कि वह केन्द्र है। शिष्य का यह प्रथम कर्तव्य है। इस भाव और समझ में "अहम्" को अपने मन में अंकित कर दीजिये और अपनी चेतना में उसे ऐसा खचित कर दीजिये कि वह आप का एक अंग हो जाय। जब आप कहैं कि "हम" तो आप के "अहम्" का चित्र चेतना, विचार, शक्ति और प्रभाव का केन्द्र स्वरूप आप के चित्त में जग उठे। इस प्रकार आप अपने आपे को अपने संसार से घिरा देखिये। जहाँ कहीं आप जाते हैं, वहाँ आपके संसार का केन्द्र जाता है। "आप" केन्द्र हैं, और आपके बाहर के सब पदार्थ उस केन्द्र के गिर्द घूम रहे हैं। दीक्षा के मार्ग में यह पहला बड़ा पाठ है। इसको सीखिये।

योगी गुरु लोग शिष्यों को सिखाते हैं कि तुम्हारे 'अहम्' के केन्द्ररूप में अनुभव होने में शीघ्रता हो सकती है यदि तुम एकाग्रचित्त अर्थात् ध्यान की दशा में हो जाओ और अपने ही नाम को बार बार धीरे धीरे इच्छापूर्वक गम्भीरता से जपते जाओ। इस अभ्यास से मन "अहम्" पर एकाग्र होने लगता है, और बहुत से मनुष्यों को इसी अभ्यास से दीक्षा का अभीष्ट उदय हो गया है। बहुत से सोचनेवाले बिना सिखाये ही ऐसा करने लग गए हैं। इसके प्रधान उदाहरण लार्ड टेनि-

सन हैं जो लिखते हैं कि "हमने इसी प्रकार से कुछ कुछ अंतर्ज्ञान प्राप्त किया"। वह अपने ही नाम को बार बार जपते और साथ ही अपने आपे का ध्यान करते थे। वे कहते हैं कि "हमने अपनी यथार्थता और नित्यता का अनुभव प्राप्त कर लिया—संक्षेप में यह कि हमने अपने को चेतना का वास्तविक केन्द्र अनुभव कर लिया"।

हम ख्याल करते हैं कि हमने ध्यान और एकाग्रचित्तता की पहली सीढ़ी की कुंजी आपको दे दी। आगे बढ़ने के पहले एक पुराने हिन्दू योगी का कथन सुन लीजिये। वह कहते हैं कि "जब जीव अपने को केन्द्र के रूप में परिधि से घिरा हुआ देखता है—जब सूर्य जान जाता है कि हम सूर्य हैं और घूमते हुए ग्रहों से घिरे हैं—तब वह गुरु के ज्ञान और शक्ति को ग्रहण करने के योग्य होता है"।

"अहम्" का शरीर से परे होने का ज्ञान। बहुत से शिष्य "अहम्" के पूरे अनुभव से अपने को वंचित पाते हैं (यद्यपि वे उसे कुछ कुछ समझने भी लगते हैं) क्योंकि वे "अहम्" की यथार्थता को दैहिक भावना से गड़बड़ा देते हैं। यह बाधा चित्त की एकाग्रता और ध्यान से सरलता के साथ हटाई जा सकती है और "अहम्" का शरीर से परे होना ज्योति के रूप में शिष्य को झलक जाता है जब ठीक वस्तु का उचित ध्यान जम जाता है।

अभ्यास नीचे दिया जाता है। ध्यान की अवस्था में हो जाओ और अपना ख्याल करो—वास्तविक "अहम्" का—कि हम शरीर से परे हैं परन्तु इसका व्यवहार आच्छादन की

भाँति कर रहे हैं अथवा इसे उपकरण (औजार) के रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं। शरीर का वैसा ही ध्यान करो जैसे तुम अपने पहने हुए वस्त्र को समझते हो। इस बात का अनुभव करो कि तुम शरीर को छोड़ कर भी वही "अहम्" बने रह सकते हो। शरीर के छोड़ने और ऊपर से इसे देखने की कल्पना करो। अपने शरीर को एक खोखला समझो जिसमें से तुम बिना अपने आपे में क्षति पहुँचाये बाहर निकल सकते हो। ऐसा समझो कि तुम उस शरीर पर अधिकार और उसपर शासन कर रहे हो, जिसमें तुम बसते हो। तुम उसका प्रयोग कर रहे हो, उसे स्वस्थ बनाए हो, उसे सबल और सुदृढ़ किये हो पर तो भी वह केवल खोखला या आच्छादनमात्र तुम्हारे वास्तविक "अहम्" के लिये है। ऐसा विचार करो कि यह देह उन परमाणुओं और देहाणुओं से बनी है, जो लगातार बदल रहे हैं पर तुमारे जीव के बल द्वारा एकत्रित धारण किये गये हैं और जिन्हें तुम अपनी आकांक्षा से उन्नत कर सकते हो। इस बात का अनुभव करो कि तुम शरीर में केवल उसी प्रकार अपने आराम के लिये बस रहे हो जैसे तुम किसी मकान में बसते हो।

आगे ध्यान करने में शरीर को पूरा पूरा भुला दो और अपने ध्यान को वास्तविक 'अहम्' पर लगा दो कि तुम अब वास्तविक "तुम" का अनुभव करने लगो, तब तुम्हें मालूम होगा कि तुम्हारा आपा—तुम्हारा "अहम्" तुम्हारी देह से बिलकुल पृथक् कोई पदार्थ है। अब तुम "मेरा शरीर" एक नये ही अर्थ में कह सकते हो। इस ख्याल को बिलकुल ही

तर्क कर दो कि तुम शारीरिक सत्ता हो, और यह अनुभव करो कि तुम शरीर से परे हो। परन्तु इस भावना और इस अनुभव के कारण शरीर की उपेक्षा मत करना। तुम शरीर को आत्मा का मन्दिर अवश्य समझते रहना और इसकी रक्षा करना तथा इसे "अहम्" के लिये उपयुक्त निवासस्थान बनाये रखना। जब कभी इस ध्यानावस्था में तुम्हें कुछ क्षण के लिये यह प्रतीत हो कि तुम शरीर से बाहर हो, और अभ्यास के पश्चात् शरीर में लौट रहे हो, तो डरना मत। जीव (ऊँचे अभ्यासियों की अवस्था में) शरीर के घेरे के बाहर निकल जाने के योग्य हो जाता है, परन्तु ऐसी दशा में वह शरीर से सम्बन्ध नहीं तोड़ देता। यह वैसे ही होता है जैसे कोई मनुष्य कोठरी की खिड़की के बाहर सिर निकाल कर देखे कि बाहर क्या हो रहा है और फिर अपनी इच्छा के अनुसार सिर को भीतर खींच ले। ऐसा मनुष्य कोठरी को छोड़ नहीं देता। यद्यपि वह अपने सिर को बाहर निकाल सकता है कि देखें कि बाहर गलियों में क्या हो रहा है। हम अपने शिष्यों को इस अनुभव के जगाने की सलाह नहीं देते, परन्तु यदि आपसे आप यह ध्यानावस्था में आ जाय तो इससे डरना नहीं चाहिये।

जीव की अमरता और अदम्यता का अनुभव। अधिकांश मनुष्य केवल विश्वास द्वारा जीव की अमरता को स्वीकार करते हैं, परन्तु बहुत ही कम मनुष्य इस बात से अभिज्ञ हैं कि यह बात स्वयम् जीव द्वारा प्रमाणित और सिद्ध हो सकती है। योगी गुरु लोग शिष्यों को यह पाठ नीचे लिखी

हुई रीति से सिखाते हैं:—शिष्य ध्यानावस्था में हो जाता है अथवा मन की विचारशील दशा में हो जाता है और तब अपने को मृतदशा में 'कल्पना' करने की चेष्टा करता है—अर्थात् वह ऐसी मानसिक भावना करता है कि मानों वह मर गया है। यह बात पहले ख्याल में तो बहुत सरल प्रतीत होती है, परन्तु असल बात तो यह है कि ऐसा करना असम्भव है, क्योंकि जीव इस प्रस्तावना को धारण करना अस्वीकार करता है और ऐसी कल्पना को असम्भव पाता है। तुम स्वयम् इस बात की परीक्षा करो। तुम्हें ऐसा जान पड़ेगा कि तुम अपने शरीर की कल्पना तो मृतक और निर्जीव की कर सकते हो, परन्तु उसी विचार में तुम्हें यह भी प्रतीत होगा कि ऐसा करने में तुम उस देह को खड़े देख रहे हो। इस तरह तुम देखते हो कि तुम किसी भाँति मरे नहीं हो, यहाँ तक कि कल्पना में भी नहीं मर सकते, यद्यपि यह शरीर मर सकता है। अथवा यदि तुम अपने शरीर से पृथक् होना कल्पना में अस्वीकार करते हो तो तुम अपने शरीर को मृतक समझो और "तुम" जो उसे छोड़ना अस्वीकार करते हो, अब भी जीते हो और मृतक देह को अपने वास्तविक आपे से पृथक् एक वस्तु अनुभव करते हो। चाहे तुम जितना यत्न और जितनी चेष्टा करोगे पर तो भी तुम अपने को मरा हुआ कभी कल्पना नहीं कर सकते। इन विचारों और ख्यालों में से प्रत्येक में जीव जीवित ही रहने के लिये हठ करता है और समझता है कि उसके भीतर अमरत्व की भावना और उसी का निश्चय है। किसी चोट के लगने से जो बेहोशी आती है

अथवा नींद की दशा में या नशे और क्लोरोफार्म आदि की बेहोशी में मन देखने में तो निर्विचार और निश्चेष्ट (शून्य) हो जाता है, परन्तु "अहम्" अपने अस्तित्व के बने रहने का अभिज्ञ रहता है। और इस तरह कोई मनुष्य अपने को बेहोश और सोया हुआ तो बड़ी आसानी से सोच सकता है और ऐसी अवस्था की सम्भावना देखता है परन्तु जब "अहम्" के मर जाने की कल्पना करने का मामला आता है तब मन इस कार्य को करना बिलकुल अस्वीकार कर देता है। यह आश्चर्यजनक बात है कि जीव अपने ही भीतर अपने अमरत्व का प्रमाण धारण किये है। यह एक उज्ज्वल बात है, परन्तु इस बात के पूरे भ [illegible] को समझने के लिये कुछ अपने विकाश का पहले हो जाना [illegible] तक [illegible]

शिष्य [illegible] यहाँ कह दिया जाता है कि ऊपर के कथन की परीक्षा वह स्वयम् आप चित्त की एकाग्रता और ध्यान द्वारा कर ले, क्योंकि इस अभिप्राय से कि "अहम्" अपनी वास्तविक प्रकृति और सम्भावना को समझे, उसका यह अनुभव करना कि मैं कभी नाश या मृत्यु को नहीं प्राप्त हो सकता अत्यन्त आवश्यक है। उसको अपनी प्रकृति को प्रगट करने के पहले अपने आपको स्वयम् जानना पड़ेगा। इसलिये जब तक इसे अच्छी तरह सिद्ध न कर लो इस शिक्षा के इस अंग को छोड़ न जाओ। जब आगे भी बढ़ जाओ तब भी कभी कभी इस उपदेश पर लौट आओ कि तुम्हारे मन पर तुम्हारी अमरता और नित्यता अंकित रहे। सत्य की इस भावना की तनिक सी भी झलक तुम्हें बढ़ी हुई शक्ति और दृढ़ता का

अनुभव देवेगी, और तुम्हें ऐसा मालूम होगा कि तुम्हारा आपा अब अधिक फैल और बढ़ गया है और तुम उससे कहीं अधिक शक्ति और केन्द्र हो, जितना तुम अब तक समझते थे।

नीचे लिखे हुए अभ्यास जीव की अदम्यता को उद्योतित करने के लिये बड़े लाभकारी हैं। जीव अदम्य है अर्थात् वह तत्वों के ऊपर है, न कि उनके नीचे और उनके अधिकार में है।

ध्यानावस्था में हो जाओ और "अहम्" को देह से पृथक् कर देने की कल्पना करो। उसे वायु, अग्नि अ[illegible] जल की परीक्षा से अक्षत निकलते हुए देखो। देह की [illegible] न रहने से जीव इच्छा पूर्वक हवा [illegible] उड़ते रहने के [illegible] चिड़िया की भांति बहते रहने-ऊंचे [illegible] हो। इस तरह [illegible] करने के योग्य देखा जाता है। व[illegible]हीं हो.. यहाँ [illegible] बिना किसी हानि और बिना किसी वे[illegible] के [illegible]निकल जाने के योग्य देखा जाता है, क्योंकि [illegible]गण केवल देह पर प्रभाव डाल सकते हैं और यथार्थ "अहम्[illegible] का कुछ भी नहीं कर सकते। इसी तरह यह भी देखा जा सकता है कि वह बिना किसी कष्ट, भय और क्षति के पानी में भी गति कर सकता है।

इस ध्यान से तुम्हें प्रबलता और शक्ति का भाव प्राप्त होगा और कुछ २ वास्तविक "अहम्" की प्रकृति दिखाई पड़ेगी। यह सत्य है कि आप देह में घिरे हैं, और देह तत्वों द्वारा पराभव को प्राप्त हो सकता है, परन्तु यह ज्ञान कि वास्तविक "अहम्" शरीर से अधिक प्रबल है-उन तत्वों से अधिक प्रबल है जो शरीर पर बाधा पहुंचाते हैं-और यह

"अहम्" अक्षर और अमर है, आश्चर्यजनक है और तुम्हारे भीतर पूरे "अहम्" की चेतना के विकाश में सहायक होता है, क्योंकि तुम वास्तविक "अहम्" शरीर नहीं हो। तुम आत्मा हो। जीव अछेद्य और अमर है, और न तो इसकी मृत्यु हो सकती और न इसकी कुछ हानि हो सकती है। जब तुम इस अनुभव और चेतना में प्रवेश पाओगे, तब तुम्हें बल और शक्ति का ऐसा प्रवाह आते हुए प्रतीत होगा कि जो वर्णन से बाहर है। भय तुममें से इस प्रकार दूर हो जायगा जैसे पुराना वस्त्र शरीर से हटा दिया जाता है और तुम्हें जान पड़ेगा मानो तुम्हारा नया जन्म हुआ है। इस विचार को समझ जाने से तुम्हें यह दीख पड़ेगा कि वे चीजें जिनसे [illegible] तक डरा करते थे, वास्तविक "अहम्" की कुछ भी [illegible] नहीं कर सकतीं, परन्तु केवल शरीर ही का बिगाड़ कर सकती हैं। और वे शरीर से भी, आकांक्षा के उचित ज्ञान और प्रयोग द्वारा, दूर हटाई जा सकती हैं।

अगले पाठ में आपको यह बतलाया जायगा कि "अहम्" को कैसे मन की संगति से पृथक कर सकते हैं—कैसे आप मन के ऊपर अपने अधिकार का अनुभव कर सकते हैं जैसे आप अब अपने को शरीर से परे होना अनुभव कर रहे हैं। यह ज्ञान आप को थोड़ा २ करके क्रमशः प्राप्त होगा। आप को पहले सीढ़ी के एक पाये पर दृढ़ पैर रखना होगा, तब दूसरे पाये के लिये क़दम उठाना होगा।

इस पहले पाठ का महामंत्र "अहम्" है। शिष्य को पूरा २ इसके अर्थ का अनुभव हो जाना चाहिये, तब वह

उन्नति करने में समर्थ हो सकेगा। उसको शरीर के परे अपने यथार्थ अस्तित्व का अनुभव करना होगा। उसको अपने तईं हानि, क्षति और मृत्यु से अभेद्य देखना होगा। उसको अपने तईं चेतना को एक बड़ा केन्द्र देखना होगा- एक सूर्य, जिसके चारों ओर उसका संसार घूम रहा है। तब उसमें नवीन शक्ति आवेगी। वह शान्ति, महत्व और शक्ति प्रतीत करेगा, जो उन लोगों पर विदित होगी जो उसके सम्पर्क में आवेंगे। वह संसार को निर्भर होकर देखेगा, क्योंकि वह "अहम्" की प्रकृति और शक्ति का अनुभव कर रहा है। वह इस बात का अनुभव करेगा कि मैं शक्ति और प्रभाव का केन्द्र हूँ। वह अनुभव करेगा कि "अहम्" को कोई वस्तु हानि नहीं पहुँचा सकती, जीव[illegible] इसे [illegible] उसके व्यक्तित्व पर कितना ही धक्का पहुँचावें, [illegible] यहाँ वास्तविक "अहम्" सर्वदा अक्षत [illegible]। [illegible] प्रकार आँधी और तूफ़ान में चट्टान अटल और दृढ़ स्थित रहता है वैसे ही जीवन के तूफ़ान में उसका "अहम्" दृढ़ स्थित रहता है। उसको यह भी जान पड़ेगा कि ज्यों २ वह इस अनुभव में उन्नति करेगा त्यों २ वह इन तूफ़ानों पर भी शासन करने और इन्हें शान्त करने के योग्य होता जायगा।

जैसा कि एक योगी गुरु ने कहा है, "अहम्" नित्य है। यह बिना किसी हानि के उठाये अग्नि वायु और जल में होकर गति कर सकता है। तलवार और बर्छे से न तो इसकी मृत्यु हो सकती और न इसे हानि ही पहुँच सकती है। यह कभी भी नहीं मर सकता। भौतिक शरीर की परीक्षाएं

इसके लिये सपने की भांति हैं। "अहम्" के ज्ञान में सुरक्षित रहकर मनुष्य दुनिया की अधिक कष्ट की दशा में भी मुसकुराता रह सकता है और अपना हाथ उठाकर कष्टों से यह कह सकता है कि "भाग जाओ, जिस कुहिर से तुम उत्पन्न हुए हो उसीमें विलीन हो जाओ" धन्य है वह मनुष्य जो अच्छी तरह समझ कर कह सके "अहम्।"

हे मेरे प्यारे शिष्यो, हम तुम्हें पहला पाठ सिद्ध करने के लिये अब छोड़ते हैं। यदि तुम्हारी गति धीमी हो तो अधीर मत होना। एक कदम प्राप्त करके फिर यदि तुम पीछे फिसल जाओ तो इसके लिये उदास मत होना। आगे तुम्हें दो कदमों का लाभ हो जायगा। तुम्हें सफलता और अनुभव प्राप्त होंगे। सिद्धि आगे खड़ी है। वह तुम्हें प्राप्त होगी। तुम काम पूरा करोगे। तुमारे सुख शान्ति बनी रहे।

पहले पाठ के मंत्र।

"मैं" एक केन्द्र हूँ। मेरे गिर्द मेरा संसार घूम रहा है।
"मैं" प्रभाव और शक्ति का केन्द्र हूँ।
"मैं" विचार और चेतना का केन्द्र हूँ।
"मैं" शरीर से परे हूँ।
"मैं" अमर हूँ और मेरा कभी नाश नहीं हो सकता।
"मैं" अदम्य हूँ और मेरी क्षति नहीं हो सकती।

दूसरा पाठ।

जीव के मानसिक उपकरण (औज़ार)।

पहले पाठ में हमने असली "अहम्" के अनुभव में शिष्य की चेतना को जगाने के अभिप्राय से शिक्षा और अभ्यास दिये हैं। हमने "अहम्" की यथार्थता ही के विषय में प्रारम्भिक उपदेश दिया है और उन साधनों को बतलाया है जिन से शिष्य अपने असली आपे का अनुभव कर सके और साथ ही यह भी देख ले कि आपा देह और भौतिक पदार्थों से परे है। हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि आप कैसे "अहम्" की यथार्थता की चेतना में जग और उसकी असली प्रकृति, उसका देह से परे होना, उसकी अमरता उसकी अदम्यता और उसकी अभेद्यता का अनुभव कर सकते हैं। इन बातों के दिखाने में हम कहाँ तक सफलमनोरथ हुए हैं, यह प्रत्येक शिष्य के अनुभव से निश्चित होगा, क्योंकि हमारा काम तो रास्ता ही बतलाने का है। असल काम गति करना है। यह तो शिष्य के हाथ में है। असल काम तो उसीको करना पड़ेगा।

इस "अहम्" के अनुभव में जग जाने के विषय में और भी अधिक कहना और करना है। अभी तक तो हमने इतना ही बतलाया है कि "अहम्" को कैसे जीव के भौतिक आवरणों से पृथक् पहचानना होगा। हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि आपे में एक असली "अहम्" है और तब यह बतलाया है कि वह क्या है और कैसे भौतिक आवरणों से परे है। परन्तु इस आपे के विश्लेषण में एक बात और शेष है।

वह और भी कठिन बात है। जब शिष्य देह और भौतिक आवरणों से परे होने के अनुभव में जग भी जाय तो भी वह "अहम्" को मानस के नीच तत्वों से गड़बड़ा देता है। यह भूल है। मन तो अपने अनेक रूपों और पटलों में भी, "अहम्" का एक उपकरण (औजार) मात्र है, और निज "अहम्" से बहुत ही भिन्न है। इस पाठ और अगले अभ्यासों में हम इसी बात का उद्योतन करेंगे। हम आध्यात्मिक पटलों को छोड़ कर और उनसे पृथक् रहकर, केवल योग के मानस-विज्ञान से काम लेंगे। हम न तो मन के विषय में युक्तियों का वर्णन करेंगे और न मन के कारण, प्रकृति और उद्देश्य को समझावेंगे, वरन् एक ऐसा रास्ता बतलावेंगे जिससे आप मन के अनेक टुकड़े (विश्लेषण) कर डालें और तब निश्चय करें कि कौन "अहम्" भिन्न और कौन यथार्थ "अहम्" है। आपसे युक्तियों और आध्यात्मिकवादों का कहना उस अवस्था में निष्फल ही है जब कि इसके सिद्ध करने का मार्ग ठीक आपकी मुट्ठी में है। मन का प्रयोग करके आप उसे भिन्न भिन्न भागों में पृथक् कर सकेंगे और उसके विषय के प्रश्नों में उसीको उत्तर देने के लिये बाध्य कर देंगे।

मन के तीन पटल और विभाग हैं जो तीनों आत्मा के नीचे हैं। "अहम्" आत्मा है परन्तु इसके मानसिक तत्व नीच श्रेणी के हैं। अच्छा होगा कि हम मनुष्य के मन के इन तीनों मानसिक विभागों का संक्षेप में वर्णन कर जायँ।

पहले वह मन है जिसे प्रवृत्ति-मानस कहते हैं, जो मनुष्यों और नीच जन्तुओं दोनों में पाया जाता है। मन

का यह पहला तत्व है जो विकास की सीढ़ी में प्रगट होता है। इसकी बहुत ही नीच दशा में चेतना कदाचित ही प्रगट होती है। अपनी उच्च श्रेणी में यह प्रायः बुद्धि के पटल तक पहुँच जाता है। वस्तुतः उच्च मन और बुद्धि ऊपर जाकर एक दूसरे को आच्छादित कर लेते हैं या यों कहिये कि एक दूसरे से मिल जाते हैं। यह प्रवृत्ति-मानस हमारी देहों में पाशविक जीवन बनाये रखने में बड़ा कार्य करता है, क्योंकि हमारी सत्ता का यह विभाग इसी के अधिकार में है। यह मरम्मत, नवीकरण, परिवर्तन, पाचन, रसग्रहण, मल-त्याजन आदि लगातार के कामों पर प्रस्तुत रहता है और ये काम चेतना के पटल के नीचे हुआ करते हैं।

परन्तु प्रवृत्ति-मानस के कुल कार्यों का यह एक छोटा भाग है। क्योंकि मन के इसी भाग में हमारे और हमारे पूर्वजों के अनुभव, जो हमारे विकाश में पाशविक जीवन के नीच रूपों से लेकर अब के वर्तमान विकाश की दशा तक के हैं, एकत्रित हैं। पुरानी पशुवृत्तियाँ (जो अपने स्थान पर बहुत अच्छी थीं और जीवन के नीच रूपों में बिलकुल आवश्यक थीं) मन के इसी भाग में अपने चिन्हों को छोड़ गई हैं। यही चिन्ह असाधारण अवस्थाओं की प्रेरणा पाकर ऊपर प्रगट हो जाया करते हैं, यद्यपि हम समझते हैं कि बहुत दिन हुए कि हम उन वृत्तियों को पार कर आये। मन के इस भाग में पशुओं की युद्धप्रवृत्ति के लक्षण पाये जाते हैं, सब पाशविक वृत्तियां जैसे घृणा, ईर्षा, द्वेष इत्यादि, जो हमें पूर्वकाल में मिली है, पाई जाती हैं। यही प्रवृत्ति-मानस आदतों का भी आधार

है और इसी में छोटी बड़ी अनेक जन्मों की आदतें, जो पीछे के जन्मों की और भी प्रबल आदतों के द्वारा हटाई नहीं गई हैं, संचित रहती हैं। यह प्रवृत्तिमानस एक अद्भुत भंडार है, जिसमें अनेक भिन्न भिन्न पदार्थ भरे हैं, जिन में बहुत तो अपने तरीके के बहुत अच्छे हैं, परन्तु दूसरे तो अत्यन्त बुरे पुराने और रद्दी हैं।

मन का यही भाग आतुरता, जोश, इच्छा, लोभ, वेदना और नीच वृत्तियों का, जो नीच जन्तुओं, जंगली आदमियों, म्लेच्छों और आधुनिक मनुष्यों में पाई जाती हैं, अधिष्ठान है, अन्तर केवल इतना ही रहता है कि कहीं तो यह उच्चमानस द्वारा अधिक शासित और अधिकृत रहता है और कहीं कम। उच्च कामनाएं और उत्कंठाएं भी हुआ करती हैं पर वे मन के उच्च भाग की वृत्तियाँ हैं, जिनका हम अभी आगे वर्णन करेंगे, परन्तु पाशविकवृत्ति तो इसी प्रवृत्तिमानस से सम्बन्ध रखती है। इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली हमारी तामस और राजस भावनाएं हैं। तमाम पाशविक कामनाएं जैसे भूख, प्यास, कामातुरता, घृणा, इर्षा, द्वेष, लोभ और क्रोध आदि मन के इसी भाग की क्रियाएं हैं। भौतिक पदार्थों की संसार के लिये कामनाएं और पार्थिव वस्तुओं की लालसाएं इसी भाग की चीजें हैं। शारीरिक भोग, आंखों के भोग और सभी इन्द्रियों के भोग और जीवन के अभिमान आदि इसी प्रवृत्तिमानस के गुण हैं।

स्मरण रखिये कि प्रवृत्तिमानस के गुणों और क्रियाओं की हम निन्दा नहीं करते हैं। इन सबके लिये स्थान है, बहुत तो पिछले कालों में आवश्यक थीं, बहुत अब भी दैहिक जीवन

को बनाये रखने के लिये आवश्यक हैं। अपने अपने स्थान पर सभी अच्छे हैं, और उन मनुष्यों के लिये भी अच्छा है जिन्होंने अभी इन्हीं गुणों और क्रियाओं तक विकाश पाया है, ये अनुचित तभी हो जाती हैं जब ये मनुष्य के ऊपर अपना अधिकार कर लेती हैं अथवा जब मनुष्य विकाश करके उच्च-कोटि में पहुँच जाने और इनके पार हो जाने पर भी फिर लौट कर अयोग्य वस्तु को धारण कर लेता है।

यह पाठ चीजों के विधि और निषेध से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता (इस विषय का वर्णन अन्यत्र किया गया है) और हम मन के इस भाग का उल्लेख किये देते हैं कि आप समझ जायँ कि आपके मानसिक संगठन में ऐसी एक वस्तु है और वहाँ से उत्पन्न विचारों को भी समझ जायँ जब हम इस पाठ के अन्तिम भाग में मन का विश्लेषण करने लगें। पाठ की इस श्रेणी में आपसे केवल हम इतना ही चाहते हैं कि आप समझ लें और अनुभव कर लें कि मन का यह भाग आपका है, पर निज आप नहीं हैं। यह आपका "अहम्" भाग नहीं है।

प्रवृत्तिमानस के ऊपर बुद्धि अर्थात् मन का वह भाग है जो तर्क वितर्क, सोचना विचारना आदि करता है। इस पाठ के विचार में आप उसका व्यवहार कर रहे हैं। परन्तु स्मरण रखिये, आप उसका व्यवहार कर रहे हैं पर वह आप नहीं है, जैसे प्रवृत्तिमानस आप नहीं था, वैसे ही बुद्धि भी आप नहीं है। आप यदि क्षण भर सोचेंगे तो इसको पृथक कर सकेंगे। हम बुद्धि के विचार में आपका समय नहीं लिया चाहते। आप इसका वर्णन मनोविज्ञान की किसी अच्छी किताब में पा

सकते हैं। इसके उल्लेख करने में हमारा केवल यही अभिप्राय है कि आप इन विभागों को समझे रहें कि आगे चलकर हम दिखा सकें कि बुद्धि केवल जीव का उपकरण मात्र है, यह वास्तविक "अहम्" नहीं है जैसा कि बहुत से लोग समझे हुए हैं।

तीसरा और सब से ऊँचा मानसिक तत्व वह है जिसे आत्मिक मन कहते हैं और जो मानवजाति के बहुत लोगों को प्रायः अज्ञात है, परन्तु जिसका कुछ कुछ विकाश उन सब लोगों में हो रहा है जो इस पाठ को पढ़ते हैं, क्योंकि इस पाठ का विषय आपको आकर्षित कर रहा है। यही इस बात का प्रमाण है कि आपकी वह मानसिक प्रकृति चेतना में विकाश पा रही है। मन का यही भाग वह अंश है जिसे हम लोग प्रतिभा, अंतःप्रेरणा, इलहाम, आध्यात्मिकता आदि, जिन्हें मन की बनावट का उच्चतम भाग समझा जाता है, कहते हैं। मन के इसी भाग से कुल उच्च विचार और भावनाएं उत्पन्न हो कर चेतना के क्षेत्र में प्रवाहित होती हैं। कुल ऊँची मानसिक भावनाएं, जो मनुष्य के उच्च विकाश में आती हैं, सच्ची धार्मिक भावनाएं, दयालुता, मनुष्यत्व, न्याय, निस्वार्थ प्रेम, कृपा, सहानुभूति आदि इसी आत्मिक मन से आये हुए हैं। ईश्वर-भक्ति और मनुष्य-प्रेम इसी मार्ग से प्राप्त हुए हैं। गूढ़ तत्वों का ज्ञान इसी के द्वारा मनुष्य को प्राप्त होता है। "अहम्" का मानसिक अनुभव, जिसके सिखाने के लिये हम इस पाठ में इतना यत्न कर रहे हैं, इसी आध्यात्मिक मन की भावनाओं के चेतना क्षेत्र में विकाश होने से प्राप्त होगा।

परन्तु मन का यह भी महत् और अद्भुत भाग केवल उपकरण है—यह सत्य है कि बहुत ही उत्तम बना हुआ उपकरण है, पर है जीव अथवा "अहम्" का उपकरण ही ।

हमारा विचार है कि आपको कुछ मानसिक अभ्यास इस अभिप्राय से बतावें कि आप "अहम्" को मन अथवा उसकी अवस्थाओं से पहचान सकें। इस सम्बन्ध में हम कहेंगे कि मन का प्रत्येक अंश, पटल और कर्तव्य अच्छा और आवश्यक है, और शिष्य को इस भ्रम में न पड़ना चाहिये कि इस कारण से कि कभी हम मन के इस अंश के त्यागने की शिक्षा देते हैं और कभी उस अंश के, इसलिये हम मन की निन्दा कर रहे हैं या हम उसे बोझा या बाधा समझ रहे हैं। यह बात नहीं है, किन्तु हम जानते हैं कि मन ही के व्यवहार से मनुष्य अपनी वास्तविक प्रकृति और अपने आपे के ज्ञान तक पहुँचा है, और बहुत दूर आगे तक उसकी गति मानसिक शक्तियों के विकाश ही पर अवलम्बित रहेगी ।

अभी तक मनुष्य मन के नीच अंशों का व्यवहार कर रहा है और उसके मानसिक जगत में अभी बड़े बड़े अदृष्ट स्थान हैं जो उन बातों से कहीं बढ़कर हैं, जिन्हें मनुष्य ने अबतक स्वप्न में भी प्राप्त की हैं। यथार्थ में यह राजयोग का कार्य है कि इन उच्च शक्तियों और मानसिक अवस्थाओं के विकाश में सहायता पहुँचावे। इसलिये मन की निन्दा करने के स्थान में राजयोग के गुरु लोग मन की शक्तियों और सम्भावना में अधिक यत्नशील रहते हैं और शिष्यों को यह

उपदेश देते हैं कि वे उन गुप्त शक्तियों से काम लें जो जीव में दायस्वरूप वर्तमान हैं।

यह मन ही के द्वारा हो सकता है कि जिन बातों को हम आपको सिखा रहे हैं, उन्हें आप धारण करें और समझें तथा अपने लाभ के लिये व्यवहार में लावें। हम अब सीधे आपके मन ही से बातें कर रहे हैं और उसी से प्रार्थना कर रहे हैं कि वह लग जाय और अपना द्वार खोल दे कि जो ज्ञान उसी के उच्च अंशों से उसे आ रहा है उसे ग्रहण करे। हम बुद्धि से निवेदन कर रहे हैं कि वह अपने ध्यान को इस महत विषय में लगावे और उन सत्य बातों में कम बाधा पहुँचावे जो उस आध्यात्मिक मन से आ रही हैं, जो उन सत्य बातों का अनुभवी है।

मानसिक अभ्यास।

शान्ति और सुख की ऐसी दशा में हो जाओ कि तुम उन बातों का ध्यान कर सको जिन्हें हम तुम्हारे विचार के लिये बतलाते हैं। इन बातों को आदर से ग्रहण करो और मानसिक ऐसी दशा बनाये रहो कि जो कुछ तुम्हारे मन के उच्च अंशों में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हो उसे तुम ग्रहण करो।

हम तुम्हारे ध्यान को कई मानसिक अंकनों और अवस्थाओं की ओर एक के पश्चात् दूसरे पर आकर्षित किया चाहते हैं जिससे तुम अनुभव कर सको कि ये तुम्हारे प्रसंग से है, न कि निज "तुम" हो और जिससे तुम यह भी अनुभव कर सको कि तुम इन्हें अपने से पृथक कर सकते

हो और तब इनपर विचार कर सकते हो, ठीक उसी भांति जैसे तुम उस वस्तु को पृथक् कर सकते हो जिसका तुम व्यवहार करते हो। तुम "अहम्" को पृथक् कर के उसका विचार नहीं कर सकते, परन्तु भिन्न "अहम्" भिन्न बातों को पृथक् कर के उनका विचार किया जा सकता है।

पहले पाठ में तुमने "अहम्" को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लिया है कि वह शरीर के परे है, और शरीर केवल व्यवहार के लिये उपकरण मात्र है। अब तुम उस श्रेणी पर आ गये हो जब कि "अहम्" तुम्हें कोई मानसिक वस्तु जान पड़ता है—विचारों, भावनाओं और वृत्तियों का पुंज। परन्तु तुम्हें आगे जाना होगा। तुम्हें "अहम्" को इन मानसिक अवस्थाओं से पृथक् कर के पहचानना होगा, ये अवस्थाएं उसी प्रकार उपकरण मात्र हैं जैसे शरीर और उसके भाग हैं।

पहले उन विचारों से प्रारम्भ किया जाय जिनका देह के साथ अधिक घनिष्ठता से संबंध है और तब उच्च मानसिक भावनाओं की जाँच की जायगी।

देह की वेदनाएं जैसे क्षुधा, प्यास, पीड़ा, सुख, शारीरिक इच्छाएं इत्यादि बहुत से शिष्यों द्वारा "अहम्" के आवश्यक गुण नहीं समझे जाते, क्योंकि वे शिष्य इस श्रेणी के पार हो गये हैं और इन वेदनाओं का थोड़ा बहुत आकांक्षा के प्रयत्न से पृथक् करना सीख गये हैं और अब उनके दास नहीं हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन्हें ये वेदनाएं होती ही नहीं किन्तु वे अब इतनी उन्नति कर गये हैं कि अब इन्हें दैहिक जीवन का अनुषंगी समझते हैं। ये अपने स्थान

पर अच्छी हैं, परन्तु साधक के लिये लाभकारी उसी समय हैं, जब उसने इन्हें इतना वश में कर लिया हो कि इन्हें अब "अहम्" का समीपी न समझता हो। तथापि किसी २ मनुष्य के लिये तो ये वेदनाएं "अहम्" के साथ इतनी अभिन्न हो गई हैं कि जब वे अपने आपे का ख्याल करते हैं तब वे इन्हीं वेदनाओं के पुंज को अपना आपा समझते हैं। वे इन वेदनाओं को पृथक् करके इन्हें भिन्न वस्तु नहीं समझ सकते कि ये उचित और आवश्यक अवसरों पर काम देने वाली वेदनाएं हैं। परन्तु "अहम्"से नितान्त सम्मिलित पदार्थ नहीं हैं। मनुष्य ज्यों २ आगे उन्नति करता जाता है त्यों २ ये वेदनाएं उसको अधिक और अधिक दूर प्रतीत होने लगती हैं। यह नहीं कि उसे क्षुधा लगती ही नहीं। सो कदापि नहीं, क्योंकि वह भूख का अनुभव करता है, उसे बुद्धि के शासन के भीतर ही भीतर तृप्त भी करता है, यह जानता हुआ कि उसका पार्थिव शरीर उसके ध्यान से याचना कर रहा है और इन याचनाओं पर ध्यान देना चाहिये। परन्तु अब फरक पर ध्यान दीजिये। इस अनुभव के स्थान पर कि "अहम्" भूखा है वह मनुष्य यह अनुभव करता है कि "मेरा शरीर" भूखा है, ठीक उसी प्रकार जैसे वह इस बात को जानता है कि उसका घोड़ा या कुत्ता भोजन के लिये पुकार मचा रहा हो। आप समझ गये कि हमारा क्या अभिप्राय है। वह यह है कि वह मनुष्य अब अपने को—"अहम्" को-शरीर से अभिन्न नहीं मानता, सुतरां जो विचार उसके शरीर से अत्यन्त निकटस्थ और सटे हैं वे उसकी "अहम्" की भावना

से अब अधिक पृथक् प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा मनुष्य यह ख्याल करता है कि "मेरा यह पेट" मेरी "वह टांग" या मेरा "ऐसा शरीर" और न कि "मैं यह" और "मैं वह"। वह आप से आप ऐसा सोचने लगता है कि यह शरीर और इस की वेदनाएँ हमारी हैं, हमसे सम्बन्ध रखती हैं और इन पर ध्यान देना चाहिये और न कि ये "अहम्" के असली अंग हैं। वह "अहम्" की भावना इन वेदनाओं के परे शरीर और उसकी वेदनाओं दोनों से परे करता है, और इस लिये "अहम्" के अनुभव में उसने पहला चरण सिद्ध कर लिया है।

आगे बढ़ने के पहले हम अपने शिष्यों से यह चाहते हैं कि वे क्षण भर ठहर जायँ और अपने ध्यान को शारीरिक इन वेदनाओं पर एक बार दौड़ा दें। उनकी मानसिक कल्पना करें, और यह अनुभव करें कि ये "अहम्" की उन्नति और अनुभव की वर्तमान श्रेणी की आनुषंगिक मात्र हैं और ये वेदनाएँ उसकी अंग नहीं हैं। ये जीव की उच्च उन्नति में नीचे छुट सकती हैं और छूट जायँगी। सम्भव है कि आपने इस मानसिक भावना को बहुत दिनों से प्राप्त किया हो, परन्तु हम यह चाहते हैं कि आप इस समय भी इसका अभ्यास करें कि यह पहला चरण आपके चित्त में अंकित हो जाय।

इस बात का अनुभव करने में कि आप इन भावनाओं को मनसा पृथक् कर सकते हैं, कि आप इन्हें दूर पृथक् रख कर विचार कर सकते हैं, कि ये बाह्य पदार्थ हैं, आप मनसा यह धारण कर रहे हैं कि ये "अहम्" से भिन्न चीजें हैं, और

आप इन्हें "अहम्" से भिन्न पदार्थों की श्रेणी में कर रहे हैं, पहले येही चीजें वहां रखने के योग्य हैं। आइये इस बात को तनिक और सरल बनाने का यत्न करें, चाहे आप पुनरावृत्ति से कुछ थक भी जायँ तो कुछ चिन्ता नहीं (क्योंकि इस भावना का दृढ़ रूप से अंकित हो जाना परम आवश्यक है)। इस कहने के योग्य होने में कि यह चीज़ "अहम" से भिन्न है आपको अनुभव करना पड़ेगा कि इस विषय में दो चीज़ें हैं:—(१) "अहम" से भिन्न चीज़ और (२) "अहम्" जो "अहम्" से भिन्न चीज़ों को वैसे ही देख रहा है जैसे "अहम्" एक मिश्री के टुकड़े अथवा पहाड़ को देखता। आप समझ गये कि हमारा क्या अभिप्राय है? जब तक न समझें, इसके समझने के यत्न में लगे रहिये।

अब आगे भावनाओं पर विचार कीजिये जैसे क्रोध, घृणा, साधारण प्रेम, ईर्षा, अभ्युदयेच्छा और ऐसी ही सैकड़ों भावनाएँ जो हमारे मस्तिष्क में होकर प्रवाहित हुआ करती हैं। आपको मालूम हो जायगा कि आप इन भावनाओं अथवा वृत्तियों में से प्रत्येक को पृथक् करने, उसका अध्ययन करने, उसे खंडित करने, उसका विश्लेषण करने और उसके विचारने में समर्थ हो सकते हैं। आप इन भावनाओं में से प्रत्येक के उदय, वृद्धि और अन्त को समझने के योग्य हो जायँगे जब वे आप के पास आवेंगी अथवा आप उन्हें अपने स्मरण या अपनी कल्पना में लावेंगे। यह बात सब उसी प्रकार होगी मानो आप अपने किसी मित्र के मन में इन भावनाओं के उदय, वृद्धि और अन्त को देख रहे हैं। आप इन सबों

को अपनी चिन्ता के संगठन के किसी अंग में संचित पावेंगे और आप उन्हें हिला डुला कर उनकी गति का अनुभव कर सकेंगे। आप नहीं देखते कि वे "आप" नहीं हैं—वे केवल ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें आप अपने मन के थैले में इधर उधर लिये फिरते हैं। आप बिना उनके अपनी कल्पना कर सकते हैं और तौ भी "अहम्" रह सकते हैं, क्या आप नहीं कर सकते ?

केवल इसी बात से कि आप उन्हें पृथक् कर के उनकी परीक्षा और उनपर विचार कर सकते हैं इस बात का प्रमाण है कि वे "अहम्" भिन्न पदार्थ हैं, क्योंकि इस विषय में दो बातें हैं:—(१) "आप" जो उनकी परीक्षा और उनपर विचार कर रहे हैं, (२) वह चीज जो आपसे पृथक् आपकी परीक्षा और आपके विचार की चीज है। इसलिये ये भावनाएं भी चाहे इष्ट हों अथवा अनिष्ट, उसी "अहम्" से भिन्न चीजों की श्रेणी में जाती हैं। वह श्रेणी लगातार बढ़ती जा रही है और थोड़े अर्से में एक बृहद् आकार की हो जावेगी।

अब यह कल्पना मत कीजिये कि इस पाठ का यह अभिप्राय है कि आपको इस बात की शिक्षा दी जाय कि ये भावनाएं कैसे त्यागी जाती हैं, यद्यपि इससे आप यदि इस योग्य हो जाय कि अनिष्ट वृत्तियों को त्याग दें तो बहुत ही अच्छी बात है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है, क्योंकि हम आपको इस समय यही आज्ञा देते हैं कि आप किसी इष्ट वृत्ति को उसी की विपरीत वृत्ति के साथ एकत्र रक्खें, अभिप्राय यह है कि इस तरह आप अनुभव करें कि "अहम्" इनके परे, इन मानसिक जोकुछों के ऊपर और इनसे स्वतंत्र है, और उस

समय जब आप "अहम्" की प्रकृति का अनुभव कर लें, तब आप लौटकर मालिक की भांति उन्हीं वृत्तियों का व्यवहार करें जो अबतक आपको दास बनाये थीं। इसलिये इन वृत्तियों को "अहम्" से भिन्न चीजों के समूह में डाल देने से भय मत खाइये। आप इस अभ्यास के समाप्त होने पर फिर उनके पास लौट जा सकते हैं और अच्छी वृत्तियों को अपने काम में ला सकते हैं। इसकी कुछ चिन्ता नहीं कि जो आप सोंच रहे हैं कि अमुक वृत्ति से तो मैं बहुत ही अधिक बँध रहा हूँ, आपको सावधानी से विश्लेषण करने पर अनुभव हो जायगा कि यह "अहम्" से भिन्न किस्म की है, क्योंकि इस वृत्ति के आवेश के आने के प्रथम "अहम्" वर्तमान था, और इसके बीत जाने पर भी "अहम्" सर्वदा बना रहेगा। बड़ा भारी प्रमाण तो यही है कि आप इसे मनसा दूर पृथक् करके इस पर विचार कर सकते हैं—यही प्रमाण है कि यह "अहम्" से भिन्न भावना है।

आप अपनी कुल भावनाओं में एक एक करके दौड़ जाइये, सब वृत्तियों में, सब अवस्थाओं में, ठीक उसी प्रकार जैसे आप किसी मित्र अथवा सम्बन्धी की भावनाओं इत्यादि का निरीक्षण करते हों और तब आप देखेंगे कि उनमें की प्रत्येक "अहम्" से भिन्न वस्तु है, और आप उस समय उन्हें कमसे कम वैज्ञानिक जांच ही के लिये पृथक् कर देंगे।

तब बुद्धि में चलकर परीक्षा के लिये प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक मानसिक तत्व को पृथक् धारण करने के योग्य हो जावेंगे। आप कहेंगे कि इसपर आपका विश्वास नहीं है।

तब मनोविज्ञान की किसी अच्छी किताब को पढ़िये और तब आप प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया का विश्लेषण करना और उसकी पृथक् पृथक् श्रेणी में उसे रखना सीख जायँगे। किसी अच्छी किताब के द्वारा मनोविज्ञान का अध्ययन कीजिये तब आप को विदित होगा कि एक २ करके बुद्धि की प्रत्येक प्रक्रिया पृथक् श्रेणियों में उसी प्रकार स्थापित की गई है, जैसे फूल आदि स्थापित किये जाते हैं। यदि इससे भी आप को सन्तोष न हो तो तर्कशास्त्र की किसी किताब को पढ़िये, तब आप स्वीकार करेंगे कि आप इन बुद्धि की प्रक्रियाओं को अपने से पृथक् करके जांच कर सकते हैं और उनके विषय में दूसरों से बात चीत कर सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य के अद्भुत उपकरण, बुद्धि की शक्तियां, "अहम्" से भिन्न पदार्थों के समूह में रक्खी जा सकती हैं, क्योंकि "अहम्" अलग खड़े होकर इनका निरीक्षण करने में समर्थ है, वह इन्हें अपने से पृथक् कर देने में समर्थ है। इस विषय में अत्यन्त अद्भुत और ध्यान देने योग्य यह बात है कि इस बात के स्वीकार करने में आप अनुभव करते हैं कि "अहम्" इन्हीं बुद्धियों की शक्तियों को इन्हींके ऊपर प्रयोग कर रहा है। वह कौन मालिक है जो इन शक्तियों को उन्हीं के ऊपर ऐसा करने को विवश करता है? वह मन का मालिक "अहम्" है।

मन की उच्च स्थितियों में—यहां तक कि आध्यात्मिक मन में—भी पहुंच कर, आप इस बात को स्वीकार करने के लिये विवश होंगे कि जो बातें उस स्थान से चेतना में आई हैं, वे भी ठीक उसी प्रकार विचार और अध्ययन की जा सकती हैं,

जैसे अन्य कोई मानसिक वस्तु विचार की जा सकती है, इसलिये ये उच्च बातें भी "अहम्" से भिन्न वस्तुओं के समूह में रक्खी जा सकती हैं। आप यह आपत्ति कर सकते हैं कि इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि आध्यात्मिक मन की सब बातें इस प्रकार बर्ती जा सकती हैं, सम्भव है कि वहां "अहम्" वस्तुएँ भी हों जो इस प्रकार न बर्त्ती जा सकें। हम इस प्रश्न पर विवाद न करेंगे, क्योंकि आप आध्यात्मिक मन के विषय में, जहां तक उसने अपने को आप पर प्रगट किया है उसे छोड़ कर, और कुछ नहीं जानते। उस मन की उच्च भूमिकाएँ दैवी मन की भांति हैं जब उनकी तुलना उस पदार्थ से की जाती है जिसे आप मन कहते हैं। परन्तु ज्योतिर्मय अर्थात् रौशनज़मीर लोगों के—उन लोगों के जिन में आध्यात्मिक मन का अत्यधिक विकाश हुआ है—कथन से यह बात प्रमाणित होती है कि ऊंचे से ऊंचे विकाश में भी, अभ्यासी लोग क्या गुरु लोग भी अनुभव करते हैं कि मानसिक उच्चतम अवस्थाओं के भी ऊपर ही ऊपर रह कर "अहम्" इस प्रकार प्रकाश डालता है जैसे सागर पर सूर्य प्रकाश डालता है, और "अहम्" की ऊंची से ऊंची विभावना भी, जो सिद्ध योगियों को ज्ञात है "अहम्" का धुँधला प्रतिबिम्ब मात्र है, जो आध्यात्मिक मन में हो कर आया है, यद्यपि वह आध्यात्मिक मन हम लोगों के किरणावरोधक मानसिक दशाओं की अपेक्षा स्वच्छतम स्फटिक की भांति है। मन की ऊंची से ऊंची अवस्था भी "अहम्" की उपकरण मात्र है और स्वयम् "अहम्" नहीं है।

परन्तु तौ भी "अहम्" धुँधली से धुँधली चेतना में भी पाया जाता है और अचेत जीवन को भी सचेत करता है। "अहम्" तो नित्य एकरस रहता है, परन्तु उसकी प्रगट वृद्धि व्यक्ति के मानसिक विकास का परिणाम है। यह "अहम्" बिजली के उस लैम्प के समान है जो कपड़ों की अनेक तहों से आवृत्त हो। ज्यों ज्यों एक एक कपड़ा हटाया जाता है त्यों त्यों प्रकाश अधिक अधिक चमकीला और प्रखर होता जाता है, परन्तु तौ भी वह बदला नहीं है, परिवर्तन तो घेरने और धुँधला करनेवाले कपड़ों के हटाव में हुआ है। हम यह आशा नहीं करते कि आप "अहम्" का पूरा पूरा अनुभव करें, यह आज कल के मनुष्यों के ऊँचे से ऊँचे ज्ञान के भी बहुत परे है, परन्तु हम यह आशा करते हैं कि आपको "अहम्" के ऊंची से ऊंची विभावना तक लावें, जो आप लोगों में से प्रत्येक के लिये, विकाश की वर्तमान दशा में सम्भव है, और इस प्रक्रिया में हम आशा करते हैं कि आपके कुछ वे आवरण भी गिर जायँगे जिनके पार आप हो गये हैं। आवरण गिरने के लिये तैयार है, आवश्यकता केवल इतनी ही है कि एक हित-कर हाथ लग जाय और वे फड़फड़ाते हुये आपसे अलग गिर पड़ें। हम आपको "अहम्" की ऊँची से ऊँची विभावना तक पहुँचाया चाहते हैं जिसमें आप एक समुत्थित व्यक्ति हो जायँ, जिससें आप समझ सकें और उत्साह प्राप्त कर लें कि पास ही पड़े हुए उपकरणों और औजारों को उठा लें और अपने सामने के कार्य्यों में लग जायँ।

अब फिर अपने मानसिक अभ्यास पर लौट चलिये।

जब आप अच्छी तरह इतमीनान कर लें कि जिन बातों के विषय में आप सोच सकते हैं, वे सब "अहम्" से भिन्न बातें हैं, आपके व्यवहार के लिये उपकरण और औजार हैं—तब आप पूछेंगे कि "अब शेष क्या रह गया है जिसे "अहम्" से भिन्न वस्तुओं के समूह में न रक्खा जाय"। इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कहते हैं कि "निज अहम्"। जब आप प्रमाण मांगेंगे तब हम कहेंगे कि "विचार करने के अभिप्राय से "अहम्" को पृथक् करने का यत्न कीजिये"। आप अबसे लेकर परे से ऊपर परे, अनन्त पर अनन्त तक विचार करने के लिये भी "अहम्" को पृथक् करने में समर्थ न हो सकेंगे। आप ख्याल करेंगे कि आप कर सकते हैं, परन्तु थोड़ा और ध्यान देने से विदित होगा कि आप अपनी मानसिक शक्तियों ही और गुणों ही को पृथक् कर रहे हैं। और इस प्रक्रिया में "अहम्" क्या कर रहा है? केवल विचार करनेवाली चीजों को पृथक् कर रहा है। क्या आप नहीं देखते कि "अहम्" विचारनेवाला और विचार की चीज—जांचनेवाला और जांच की चीज—दोनों नहीं हो सकता। क्या सूर्य अपनी ही किरणों से अपने ही ऊपर चमक सकता है? आप किसी दूसरे के "अहम्" का विचार कर सकते हैं, पर वह तुम्हारा "अहम्" है जो विचार कर रहा है। परन्तु आप "अहम्" होकर पृथक् खड़े होकर अपने को "अहम्" रूप में नहीं देख सकते। तब क्या प्रमाण है कि हम में "अहम्" है? यही कि आपकी सर्वदा इस बात की चेतना है कि हम विचार और जांच करने वाले हैं। हम विचार और जांच की चीज नहीं हैं। और तब आपकी चेतना

ही प्रमाण हो जावेगी। यह चेतना हमें क्या सूचना देती है? केवल यही, और इससे अधिक नहीं कि "मैं हूँ"। इतनी ही बात है कि जिसकी चेतना "अहम्" की है कि "मैं हूँ"। (अहमस्मि)। परन्तु इसी चेतना में सब कुछ है, क्योंकि सब कुछ केवल "अहम्" से भिन्न वस्तु उपकरण है जिसे "अहम्" अपने अधिकार में करके प्रयोग कर सकता है।

और इस प्रकार अन्तिम विश्लेषण में आपको कोई ऐसा पदार्थ मिलेगा जो पृथक् न हो सकेगा और जिसकी जांच "अहम्" द्वारा न हो सकेगी। यही कोई पदार्थ "निज अहम्" है—यही "अहम्" नित्य अविकारी है, यही परमात्म समुद्र का बिन्दु है, परम् ज्योति की किरण है।

जैसे आप "अहम्" को मरा हुआ नहीं कल्पित कर सकते, वैसे ही आप "अहम्" को विचार के लिये पृथक् नहीं कर सकते, केवल आपको यही प्रमाण शेष रह जायगा कि "मैं हूं"।

यदि आप "अहम्" को विचार करने के लिये पृथक् कर देने में समर्थ होंगे तो विचार करनेवाला कौन होगा? "अहम्" को छोड़ कर अन्य कौन विचार कर सकता है? यदि वह यहां होगा तो वहां कैसे होगा? "अहम्" यह कभी "अहम्" से भिन्न पदार्थ नहीं हो सकता चाहे आप कल्पना-शक्ति का कितनाहू अधिक जोर बढ़ावें। कल्पनी-शक्ति अपनी सब स्वतंत्रता और शक्ति को लेकर भी इस बात को स्वीकार करेगी कि वह "अहम्" को पृथक् करने में असमर्थ और हारी हुई है।

हे शिष्यगण, आप लोग अपने आपे के अनुभव को प्राप्त हों, आप लोग शीघ्र इस बात में जागृत हो जायँ कि आप लोग सोते हुए देवता हैं, कि आप लोग अपने भीतर सृष्टि की शक्ति धारण किये हुए हैं, जो आपके वचन की प्रतीक्षा कर रही है कि कार्यरूप में प्रगट हो जाय। यहां तक पहुँचने में आपको बहुत कुछ समय लग गया है, और पहले महामन्दिर तक भी चलने में आपको बहुत समय लगेगा, पर अब आप आध्यात्मिक विकाश की चैतन्य श्रेणी में प्रवेश कर रहे हैं। अब आपकी यात्रा में आपकी आंखें बन्द न रहेंगी। अब से लेकर आगे प्रत्येक कदम को आप स्पष्टतर और स्पष्टतर देखते चलेंगे और चेतना का प्रकाश बढ़ता जायगा।

आप सर्व जीवन के सम्पर्क में हैं, और आपके "अहम्" की विश्वव्यापी महत् "अहम" से पृथकता केवल जाहिरा और क्षणिक है। इन बातों के विषय में हम तीसरे पाठ में बतावेंगे, परन्तु उसके धारण करने के पहले आपको अपने भीतर "अहम्" चेतना जगानी पड़ेगी। इस विषय को तुच्छ समझ कर छोड़ न जाइये। हमारी इस निर्बल व्याख्या को केवल शब्द, शब्द और शब्द समझ कर तिरस्कृत मत कीजिये, जैसा कि बहुतों का झुकाव है। हम आपको एक बहुत बड़ी सच्ची बात बता रहे हैं। क्यों नहीं आत्मा के नेतृत्व का अनुसरण करते, जो अब भी—इस आपके पढ़ते हुये क्षण में भी—प्राप्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा कर रहा है। इस पाठ के उपदेशों पर विचार कीजिये और मानसिक कसरत का अभ्यास कीजिये जबतक आपका मानस उसके भाव को ग्रहण न कर

ले, और जब उसे अपनी आन्तरिक चेतना में अङ्कित कर लीजिये, तब आप अगले पाठों के लिये तैयार होंगे।

इस मानसिक कसरत का तब तक अभ्यास कीजिये जब तक आपको "अहम्" की यथार्थता और "अहम्" से भिन्न पदार्थों की सापेक्षता का मन में पूरा पूरा निश्चय न हो जाय। जब आप एक बार इस यथार्थता को ग्रहण कर लेंगे तब आपको ज्ञात होगा कि आप मन को और अत्यअधिक बल और प्रभाव के साथ व्यवहार करने में समर्थ हो रहे हैं, क्योंकि आप इसका अनुभव कर लेंगे कि यह मन आपका उपकरण और औजार मात्र है, आपकी आज्ञा के पालन करने के योग्य और इसी अभिप्राय से है। आप आवश्यकतानुसार अपनी भावनाओं और वृत्तियों पर अधिकार रक्खेंगे और दास की स्थिति से स्वामी की पदवी को पा जायँगे।

जब हम इस यथार्थता के उस महत्व का विचार करते हैं जिसे बताने के लिये हम इन शब्दों द्वारा चेष्टा कर रहे हैं, हमारे शब्द सस्ते और हीन प्रतीत होते हैं। अवर्णनीय विषय के वर्णन करने के लिये कौन मनुष्य शब्द पा सकता है। केवल हम इतनी ही आशा कर सकते हैं कि आप में तीव्र मन-लगाव और ध्यान उत्पन्न कर दें जिससे आप मानसिक कसरत का अभ्यास करें और इस प्रकार इस यथार्थता के विषय में अपने ही चित्त से प्रमाण प्राप्त कर सकें। वह यथार्थता यथार्थता नहीं है जब तक उसे आप अपने अनुभव से सिद्ध न कर लें, और जब एक बार आप सिद्ध कर लेंगे तो फिर

वह किसी तरह आपसे हट नहीं सकती और न उसे कोई वाद विवाद करके आपके चित्त से टाल ही सकता है।

आपको अनुभव करना पड़ेगा कि प्रत्येक मानसिक प्रयत्न में आप अर्थात् आपका "अहम्" भीतर से भीतर छिपा वर्तमान है। आप मन को काम करने की आज्ञा देते हैं और मन आपकी आकांक्षा का पालन करता है। आप अपने मन के स्वामी हैं न कि दास। आप प्रेरक हैं न कि प्रेरित। आप मन के अत्याचार को झाड़कर, जो इतने दिनों तक आपको सता रहा था, पृथक् हो जाइये। अपने आपे का प्रतिपादन कीजिये और मुक्त हो जाइये। हम इन पाठों के दौरान भर आपकी सहायता करेंगे, पर पहले आपको मन का स्वामी अपने आप प्रतिपादन करना होगा। अपनी वृत्तियों, भावनाओं और अनवरुद्ध विचारों से स्वतंत्र होने के लिये मानसिक सङ्कल्पनामे पर दस्तखत कीजिये और अपने राज्य को उनके ऊपर स्थापित कीजिये। अपने राज्य में प्रवेश करो, तुम आत्मा के प्रगट रूप हो।

यह पाठ इसी अभिप्राय से है कि आपकी चेतना में यह बात स्पष्ट रूप से आ जाय कि "अहम्" तो यथार्थता है, मानसिक औजारों से अलग और भिन्न है, और अगले पाठ इस अभिप्राय से हैं कि, मानसिक शक्तियों के ऊपर "अहम्" की आकांक्षा का अधिकार है, यह बात आपके चित्त पर बैठ जाय, पर तौभी हमारा ख्याल है कि इस स्थान पर यदि "अहम्" की सच्ची प्रकृति और मन की सापेक्षता के अनुभव से प्राप्त हुए लाभों का वर्णन कर दिया जाय तो अच्छा ही होगा।

बहुत से लोग यह समझते थे कि हमारा मन ही हमारा स्वामी है, और हम लोगों ने अपने को ऐसा बना दिया कि हमारे ही ख्यालात हमें ले भागने लगे और हमें नाना प्रकार से सताने लगे, और अपने को कुअवसर पर प्रगट कर दिखाने लगे। अभ्यासी इस दुखड़े से तो छुटकारा पा जाता है क्योंकि वह अपने प्रभुत्व का प्रतिपादन मन के भिन्न भिन्न भागों पर करने लगता है और अपनी मानसिक प्रक्रियाओं को शासन में नियमानुवर्ती बनाये रहता है जैसे कोई किसी बढ़िया कल को अपने शासन में नियमानुवर्ती बनाये रहे। वह अपनी चैतन्य विचारनेवाली शक्तियों का शासन करने और उनसे अच्छा से अच्छा काम लेने में समर्थ है और वह यह भी सीख गया है कि अनुद्बुद्ध मन को कैसे आज्ञा दी जाती है कि जब तक हम सोते हैं अथवा अन्य कार्य में लगे हैं तुम अमुक कार्य किया करो। ये विषय अपने ठीक समय पर अगले पाठों में विचारे जायँगे।

अगले पाठ में "अहम्" का विश्वव्यापी "अहम्" के साथ सम्बन्ध वर्णन किया जायगा जिसको "आपे का विस्तार" कहेंगे। इसमें केवल बुद्धि और समझ ही की दृष्टि से नहीं वर्णन रहेगा, किन्तु, अपने शिष्यों की चेतना में इस महामंत्र की सचाई का अनुभव करा देने की चेष्टा की जायगी। इस अध्ययन में हम अपने शिष्यों को विचारों का आँचार्य नहीं बनाया चाहते किन्तु, उन्हें ऐसी स्थिति में ले जाया चाहते हैं कि जहाँ से वे स्वयम् ज्ञानवान हो जायँ और सिखाई हुई बातों का स्वयम् अनुभव करने लगें।

इसलिये हमारा अनुरोध यह है कि आप इस पाठ को केवल पढ़ कर ही सन्तुष्ट न हो जायँ वरन् इसका अध्ययन करें और जो मानसिक अभ्यास बतलाया गया है उसके अनुसार प्रतिदिन कई बार ध्यान करें जब तक कि "अहम्" और "अहम्" से भिन्न वस्तुओं का भेद स्पष्ट न मालूम हो जाय और जब तक कि उनकी यथार्थता पर केवल आपका विश्वास ही न रहे किन्तु "अहम्" और उसके मानसिक औजारों का चेतन अनुभव हो जाय सन्तोष और धैर्य रखिये। कार्य कठिन है, पर पुरस्कार बड़ा भारी है। अगर वर्षों तक कठिन अध्ययन करने से भी अपने असली आपके महत्व, उच्चपद, गौरव, बल और शक्ति का चैतन्य अनुभव प्राप्त हो जाय तो भी वह करने ही के योग्य है। क्या आप ऐसा नहीं ख्याल करते ? तब अध्ययन कीजिये, और आशा बांधे, सावधानी और गम्भीरता से अभ्यास कीजिये।

आपके साथ शान्ति विराजै।

दूसरे पाठ के महामंत्र।

"मैं" सत्ता हूँ। मेरा मन मेरे प्रगट होने का औजार है।

"मैं" अपने मन से स्वतंत्र हूँ, सत्ता या अस्तित्व के लिये उसका आश्रित नहीं हूँ।

"मैं" मन का स्वामी हूँ, उसका दास नहीं हूँ।

"मैं" वेदनाओं, भावनाओं, वृत्तियों, इच्छाओं, बुद्धि की शक्तियों, और अपने मानसिक कुल औजारों के समूह को

"अहम्" भिन्न वस्तु की भांति पृथक् कर सकता हूँ, पर तौभी कुछ शेष रह जाता है, और वह शेष "अहम्" है, जो मुझसे पृथक् नहीं हो सकता, क्योंकि वह मेरा आपा ही "अहम्" है। वह नित्य, लगातार और परिवर्तनहीन अविकारी है।

तीसरा पाठ

आपे का विस्तार

इस ग्रन्थ के पहले दो पाठों में हमने अभ्यासी को "अहम्" की यथार्थता की चेतना के अनुभव में लाने का प्रयत्न किया है और यह भी यत्न किया गया है कि अभ्यासी इस योग्य हो जाय कि अपने आपे को उसके दैहिक और मानसिक आवरणों से पहचान जाय। इस वर्तमान पाठ में हम उसके ध्यान को "अहम्" का विश्वव्यापी "अहम्" के साथ जो सम्बन्ध है, उसकी ओर आकर्षित करेंगे, और यह प्रयत्न करेंगे कि उसे वृहत्तर, महत्तर आपे की भावना हो जाय जो उसकी व्यक्ति और उसके छोटे आपे के, जिसे हम लोग "अहम्" ख्याल किया करते हैं, परे है।

इस पाठ का मूलमंत्र 'सब की एकता' होगा और इसकी कुल शिक्षा का अभिप्राय इस महत् सत्य का चेतना में जगाना होगा। परन्तु हम अभ्यासी के मन में कदापि यह नहीं अङ्कित किया चाहते कि वह परमात्मा है। हम यह नहीं सिखाते कि "मैं परमेश्वर हूँ" ऐसा विश्वास किया जाय। ऐसे विश्वास को हम भ्रान्त, भ्रमोत्पादक और योगियों की मूल शिक्षा के प्रतिकूल समझते हैं। इस मिथ्या विश्वास ने बहुत से अध्यापकों और मनुष्यों के चित्त पर अधिकार कर लिया है। इसका साथी यह भी मिथ्या विश्वास है कि विश्व माया अर्थात् भ्रम अर्थात् असत्य है। इस विश्वास से करोड़ों मनुष्य अक्रिय

निषेधात्मक मानसिक दशा को प्राप्त हो गये जिससे उनकी प्रगति निश्चय रुक गई। यह बात केवल भारतवर्ष ही में नहीं है, परन्तु यही बात पश्चिमी अध्यापकों के शिष्यों में भी पाई जाती है, जिन्होंने पूर्वीय दर्शनों के इस निषेधात्मक पटल को धारण कर लिया है। ऐसे मनुष्य उस एक के परम और सापेक्ष पटलों को गड़बड़ा देते हैं, और जब "मैं परमेश्वर हूँ" इस विश्वास का जीवन और विश्व की घटनाओं से मेल नहीं मिला सकते तब वे इसी बात को आसान और सरल पाते हैं कि विश्व ही को धृष्टतापूर्वक नास्ति कर देते हैं और कहते हैं कि यह भ्रम अर्थात् माया है।

इस मत के धारण करनेवाले अध्यापकों के शिष्यों को पहचानने में आपको बड़ी कठिनता न पड़ेगी। इन्हें आप निषेधात्मक मानसिक दशा दिखाते हुए पावेंगे, क्योंकि सर्वदा नास्ति, नास्ति की भावना में लीन रहने—नास्तिवाद की श्रुति—का यही परिणाम है। शिष्यों की इस मानसिक दशा के विपरीत उनके आचार्यों की मानसिक दशा पाई जावेगी, जो प्राय: जीवटदार, प्रेरणात्मक मानसिक बल के उदाहरण हुआ करते हैं, जो अपने उपदेशों को अपने शिष्यों के चित्त पर जमा देने, अपनी आकांक्षा के बल से अपने कथन को अंकित कर देने, के योग्य होते हैं। आचार्य तो "अहम्" चेतना में जगे हुए हैं, और वस्तुत: इस चेतना को "मैं परमेश्वर हूँ" (सोहमस्मि) इस वृत्ति के द्वारा विकसित करते हैं, क्योंकि इस वृत्ति के धारण करने से वे नीचे मानस के प्रभाव को छुड़ा बहाते हैं, और आत्मा का प्रकाश प्रबल और अति प्रखररूप से होने लगता

है, कभी कभी तो यह प्रकाश इतना प्रखर होता है कि छोटे दर्जे के शिष्य की मानसिकता को झुलसा देता है। परन्तु यद्यपि आचार्य तो "अहम्" चेतना में जगा हुआ रहता है, पर अपनी भ्रान्त भावना (कि मैं परमेश्वर हूँ) और धुँधले शास्त्र के कारण वह अपने शिष्यों में "अहम्" चेतना नहीं जगा सकता, और शिष्यों को अपने समान ज्योतिर्मय बनाने के स्थान पर वह वस्तुतः उन्हें अपने उपदेशों द्वारा अन्धकार में फेंकता है।

हमारे शिष्यों को समझना चाहिये कि हमने दोष दिखाने के लिये इन बातों को नहीं लिखा है। हमारा विश्वास ही इस प्रकार का नहीं है, क्योंकि वह ऐसा हो ही नहीं सकता यदि हम सत्य की अपनी भावना में ठीक लगे रहें। हमने इस बात को इसलिये लिखा है कि अभ्यासी गण इस "मैं परमेश्वर हूं" के गढ़े से बच जायँ, जो गढ़ा उसी मुकाम पर मिलता है जहाँ अच्छी तरह से यात्रा शुरू होती है। यदि यह केवल दूषित विचार ही का मामला होता तो इतना भयंकर न होता, परन्तु इस उपदेश का साथी जो दूसरा उपदेश है कि सब भ्रम और माया है और जीवन केवल स्वप्न मात्र है, असत्य है, मिथ्या है, और इस (योग) मार्ग पर चलना भी मिथ्या है, प्रत्येक बात नास्ति है, जीव है ही नहीं, आप छद्म-वेश में परमेश्वर हैं, परमेश्वर ही भ्रम में पड़ कर मूर्ख हो रहा है, जीवन परमेश्वर की जादूगरी है, आप परमेश्वर हैं पर आप इसलिये मूर्खता कर रहे हैं कि आपका मनबहलाव हो। क्या ये बातें भयंकर नहीं हैं ? यह इतना बड़ा भ्रम मनुष्य के चित्त पर जम गया है कि इस भ्रम के हटने में

बहुत बड़ा परिश्रम लगेगा। क्या आप समझते हैं कि हम अत्युक्ति कर रहे हैं? तब आप इन पूर्वीय दर्शनों में से किसी एक को पढ़िये या किसी पश्चिमी ही आचार्य को इस दर्शन का उपदेश करते सुनिये। पश्चिमी आचार्यों में हिन्दू आचार्यों के समान शौर्य नहीं है इस लिये वे अपने उपदेशों को गोरखधंधे में डाल देते हैं, परन्तु इनमें भी कुछ ऐसे शूर हैं जो हिन्दू आचार्यों की भांति खुल्लमखुल्ला साफ़ २ अपने इस मत का उपदेश करते हैं।

कुछ पश्चिमी आचार्य लोग इस दर्शन का यों उपदेश करते हैं कि "परमेश्वर जीवन के अनेक भिन्न २ रूपों में इसलिये वेश बदले हैं कि वह तजर्बा हासिल करे, क्योंकि यद्यपि उस का ज्ञान अनन्त और परम है पर तो भी उसको वह तजर्बा नहीं है, जो नीच रूपों को वस्तुतः धारण करके प्राप्त करने से हासिल हो सकता है, इसीलिये वह आवश्यक तजर्बा हासिल करने के लिये नाना रूप धारण करता है"। क्या आप ऐसे परम पुरुष की कल्पना कर सकते हैं जो सब ज्ञान से भरा हो पर तौ भी इस तुच्छ तजर्बे की ज़रूरत समझ कर नीच रूपों में आवे कि उसे तजर्बा हासिल हो? ये उपदेश हमें कितनी दूर ले जाकर फेकेंगे? एक और पश्चिमी आचार्य जो पूर्वीय दर्शन के किसी भाग को हजम किये हुए हैं और जिन्हें अपने सिद्धान्तों को कह डालने की शूरता भी है, कहते हैं कि "आप ही यत्सर्वस्व सत्ता हैं, और अपने ही मन में से आप ही उस विश्व को सिर्जन, पालन और संहार कर रहे हैं, जो आप ही की मानसिक कल्पना है,

यह सारा विश्व आप ही की सिर्जन शक्ति का एक तुच्छ उदाहरण है, जिसको आप अपने ही निरीक्षण के लिये दर्शा रहे हैं"। सब प्रकार के उपदेशों को जांचने के लिये यही बड़ी अच्छी कसौटी है कि "उनके फलों से उनकी जानकारी होती है"। वह दर्शन जो ऐसी शिक्षा देता है कि "विश्व एक भ्रम है जिसको आप (परमेश्वर) ने बनाया है कि आप (परमेश्वर) ही इसमें मन बहलावे, सुख भोग या लंठता करें"। इस शिक्षा का एक ही फल है कि सब कुछ नास्ति है और इतना ही कर्तव्य है कि बैठ जायँ, हाथ पर हाथ धरलें, उस दैवी जादूगरी का तमाशा देखें जिसको आप स्वयम् अपने मनबहलाव के लिये कर रहे हैं। और जब नज़र्बन्दी का खेल ख़तम हो जाय तो अपने चैतन्य परमात्मारूप में लौट जायँ और मुस्कुरा २ कर उस नज़रबंदी के खेल को याद करें जिस को आपने अपने को करोड़ों और अरबों बरस तक भ्रम में डालने के लिये रचा था। यही तो ऐसे उपदेशों का सारांश है। और इसका परिणाम यह होता है कि जो लोग जबर्दस्त आचार्यों से इस शिक्षा को अपने चित्त में जोर से आंकित करा लेते हैं, और अन्तःकरण में यह जानते हुए कि हम ईश्वर नहीं हैं, सब नास्ति के उपदेश को पान करते हैं, वे मन की उदासीनता और ढिलाई और नास्ति की ऐसी दशा में खदेड़ दिये जाते हैं कि जीव ऐसे आलस्य में गोता खा जाता है कि जहाँ से निकलना बहुत काल के लिये असम्भव हो जाता है।

हम चाहते हैं कि हमारे उपदेश को आप ऐसे उपदेशों

से न गड़बड़ावें। हम आपको यह शिक्षा देते हैं कि आप यथार्थ सत्ता हैं—परमेश्वर नहीं, परन्तु उस पुरुष का विकाश जो परम् पुरुष है। आप उस महाज्योति की किरण हैं। यदि आप ऐसा कहना अधिक पसन्द करें तो आप उस परम् पिता की सन्तान हैं, आपको उस परम् पिता के सब गुण विरासत में मिले हुए हैं। आपका कर्तव्य यह है कि आप परम् पिता से मिले हुए गुणों का विकाश करें। आप परम् को सापेक्ष से मत गड़बड़ाइये। इस गड्ढे से जिसमें अनेकों गिर गये, बचिये। अपने को निराशा के गर्त में न गिरने दीजिये और न नास्ति के कीचड़ में फंसाइये, जहां उस जबर्दस्त आचार्य की सत्ता के अलावे जो परम् पुरुष के स्थान पर उपस्थित हो जाता है, और कुछ नहीं है। आप अपना सिर ऊपर उठाइये और परम पिता से विरासत में पाये हुए हक्क का दावा कीजिये और यात्रा पर आरूढ़ हो जाइये और कहिये कि "अहम्"।

यद्यपि "अहम्" परमेश्वर नहीं है, पर तौ भी आप ने जितना इसको अपनी आत्मा के उदय होने के पहले समझा था इससे यह अनन्त गुना बड़ा है। हमलोग जहां तक इसकी इयत्ता समझे हुए थे उससे कहीं परे तक यह फैलता है। यह चारो ओर से विश्व की सीमाओं को स्पर्श करने लगता है, और जीवन के सब कुछ से एक हो जाता है। यह परमात्मा से निकले हुए सम्पूर्ण के साथ घना से घना सम्बन्ध रखता है। यह सम्पूर्ण सापेक्ष से अत्यन्त घना सम्बन्ध रखता है, यद्यपि यह सापेक्ष विश्व की ओर मुख किये हुए है, पर तौ भी इसकी मूल परम् पुरुष में है, और उसीसे

पोषण लेता है, ठीक उसी भांति जैसे गर्भस्थित बच्चा अपनी मा से पोषण ग्रहण करता है। यह सचमुच परमेश्वर का आविर्भाव है, और परमेश्वर का निज तत्व इस में है। निस्सन्देह यह उतना ही उच्च कथन है जितना ऊपर लिखा हुआ आचार्य लोगों का है "मैं परमेश्वर हूं", परन्तु तौ भी कितना भिन्न है। इस पाठ में इसी शिक्षा का विचार किया जायगा और कुछ २ आगे के पाठों में भी किया जायगा।

पहले जीव के औज़ारों और उपकरणों के विचार से जिनसे और जिनमें होकर जीव कार्य करता है, प्रारम्भ कीजिये। आइये हम लोग यह अनुभव करें कि मनुष्य का भौतिक शरीर, तत्व में विषय के अन्य रूपों के साथ एक ही है, और उसके परमाणु सदा बदल रहे हैं और उनके स्थान पर दूसरे परमाणु आ रहे हैं, सामग्री सब विषय के महत् भंडार से ली जा रही है। तब इस बात का अनुभव कीजिये-कि वह जीवटशक्ति अर्थात प्राण, जिसे मनुष्य अपने जीवन के [illegible]र्य में व्यवहार करता है, उसे महत् विश्वशक्ति का अंश है, जो [illegible] वस्तु में और सर्वत्र व्यापक है, जिस अंश को हम किसी मामली [illegible] में व्यवहार करते हैं, वह विश्वभण्डार से लिया जा[illegible] प्रत्येक क्षण और फिर हममें से निकल कर उसी शक्ति के महा समुद्र [illegible] वि[illegible] मिल जाता है। और तब इस बात का अनुभव कीजि[illegible] सक[illegible] कि मन भी, जो असली आपे का इतना निकटवर्ती है कि [illegible] उसे असली आपा होने का भ्रम किया जाता है, वह अद्भुत [illegible] पदार्थ जिसे विचार कहते हैं, वह भी विश्व-मानस का एक [illegible] अंश है, यह परम पुरुष का उच्चतम आवि-

भाव आत्मा के नीचे है, और वह मानसतत्व अर्थात् चित्त जिसे हम इस क्षण व्यवहार कर रहे हैं, वह पृथक् और स्पष्ट हमारा नहीं है, परन्तु वह भी उस विश्वभण्डार का एक अंश है जो नित्य एक रस और परिवर्तनहीन है। तब यह अनुभव कीजिये कि यह पदार्थ भी जिसे हम अपने में हिलोरें मारते हुए पाते हैं, जो आत्मा के गिर्द इतना निकट लिपट रहा है कि उसका पृथक् करना प्रायः असम्भव है, वह जिसे हम जीवन कहते हैं, वह भी उस महत् जीवनतत्व का एक खण्ड है जो विश्व में व्यापक हो रहा है और जिसमें वृद्धि और ह्रास नहीं हो सकता। जब हम इन बातों का अनुभव कर चुकें और अपना सम्बन्ध (इन विशेष बातों में) परम पुरुष के एक महत् प्रभाव से अनुभव करने लगें तब हम आत्मा की इस एकता को ग्रहण कर सकते हैं कि हमारा "अहम्" अन्य "अहम्" के सम्बन्ध में एक ही है और मेरा आपा उस महत् आपे में जुट सकता है, जो जुटाव अपनी व्यक्ति का लोप नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों ने मान लिया है, किन्तु अपनी चेतना की वृद्धि और उसका फैलाव [illegible] जहाँ तब तक वह सम्पूर्ण को नहीं अपना लेती। [illegible] तक यह

विषय के सब रूप उसी एकत्व के [illegible]ों को स्वभाव के अनेक रूप हैं जिसे आकाश कहते हैं और जिसे [illegible] जाता [illegible] मी वैज्ञानिक ईथर कहते हैं। यह ईथर या आकाश विषय [illegible] का बहुत सूक्ष्म, बारीक और अत्यन्त मिहीन रूप है। सच तो [illegible] यह है कि यह विषय का आदि और मालिक रूप है। विषय [illegible] के भिन्न भिन्न रूप इसी आकाश या ईथर के आविर्भाव हैं [illegible] गट में जो भेद

दिखाई पड़ता है वह केवल कम्प या लहरों की भिन्न २ मात्रा का परिणाम है। हम इस बात को यहां केवल इसी अभिप्राय से लिखते हैं कि आपके मन में विषय की एकता स्पष्ट बैठ जाय जिससे कि आप अनुभव कर सकें कि आपकी देह का प्रत्येक अणु विश्व के इसी एक महत् तत्व का अंश है, महत् भण्डार से ताजा निकला है और फिर उसीमें लौट जाने वाला है, क्योंकि शरीर के परमाणु सर्वदा बदला करते हैं। आज जो आपको अपना मांस जान पड़ता है, सम्भव है कि कुछ ही दिन पहले वह पौधे का एक अंश रहा हो, और कुछ ही दिन बाद वह किसी अन्य जीवित जन्तु का अंश हो जाय। लगातार परिवर्तन हो रहा है, और जो आज आपका है, कल्ह किसी दूसरे का था और आगामी कल्ह फिर किसी अन्य का हो जावेगा। आप विषय के एक परमाणु पर भी व्यक्तिगत स्वत्व नहीं रखते, यह सब उस साझे के भण्डार का अंश है। धारा तुम में और सब जीवन में होकर सदा के लिये आगे और आगे बह रही है।

यही मामला उस जीवटशक्ति का है जिसे आप अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में व्यवहार कर रहे हैं। आप सर्वदा प्राण के महत् विश्वभाण्डार से प्राण खींच रहे हैं, तब जो कुछ मिला उसका व्यवहार कर रहे हैं और उस शक्ति को फिर अन्य रूप धारण करने देते हैं। वह सब की सम्पत्ति है, और आप केवल इतना ही कर सकते हैं कि आवश्यकता-नुसार उसका व्यवहार कर सकते हैं और फिर उसे आगे बढ़

जाने देते हैं। केवल एक ही बल अर्थात् शक्ति है और वही सर्वत्र और सर्वदा पाई जाती है।

और वह महत तत्व भी जिसे मानस तत्व या चित्त कहते हैं, इसी नियम के अन्तर्गत है। इसका अनुभव करना कठिन है। हम लोग अपनी मानसिक क्रियाओं को इतना साफ २ अपना समझ लेते हैं, कि वे ऐसी चीजें हैं जो ख़ास हमारी हैं, कि जिससे यह अनुभव करना बहुत ही कठिन हो गया है कि मानस तत्व भी उसी प्रकार विश्वव्यापी तत्व है जैसे विषय और शक्ति, और हम अपनी मानसिक क्रियाओं में केवल विश्वभण्डार से इस तत्व को लेते हैं। इतना ही नहीं किन्तु मानसतत्व का वह अंश विशेष जिसे हम व्यवहार कर रहे हैं, यद्यपि अन्य मनुष्यों के व्यवहार में आनेवाले मन से एक बहुत ही पतली भौतिक दीवार द्वारा पृथक् किया गया रहता है, तौ भी वह वस्तुत: अन्य प्रगट रूप पर भिन्न मनों से और उस विश्वव्यापी मन से सम्पर्क रखता है जिसका वह अंश है। जैसे वह विषय अर्थात भौतिक द्रव्य, जिसका हमारा शरीर बना है, समस्त भौतिक द्रव्य से सम्पर्क रखता है, और जैसे वह प्राण शक्ति जिसका हम व्यवहार कर रहे हैं वस्तुत: समस्त विश्व शक्ति से संबंध रखती है, उसी प्रकार हमारा मानस तत्व भी समस्त मानस तत्व से सम्पर्क रखता है। यह ऐसी बात है मानो जीव अपनी प्रगति में भौतिक द्रव्य, शक्ति और सब के महासमुद्रों में होकर गति कर रहा है, और प्रत्येक में से उतनी मात्रा अपने व्यवहार में लेता जाता है जितनी की आवश्यकता होती

है और जितनी उसके निकट घेरे रहती है, और फिर उस प्रत्येक को पीछे छोड़ता जाता है, ज्यों २ वह महासमुद्र में होकर आगे बढ़ता जाता है। यह उदाहरण भद्दा है, परन्तु यह आपकी चेतना में इस बात का अनुभव ला सकता है कि केवल जीव ही एक ऐसी वस्तु है जो निज आपकी है। वह परिवर्तनहीन और अविकारी है और बाकी सब विश्व-भाण्डार का अंशमात्र है जिसे आप तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति के लिये खींच लेते हैं। इस बात से आप वस्तुओं की महत्[illegible]ा को स्पष्ट समझ सकते हैं, चीजों को पृथक् २ समझने [illegible]ान पर उन्हें एक सम्पूर्ण समष्टि रूप में देख सकते हैं। [illegible]रण रखिये कि आप–"अहम्" मात्र–वास्तविक और नित्य[illegible] अपने पास हैं जिसमें स्थिरता है, और शेष सब भौतिक द्रव्य, शक्ति और मानस भी आपके व्यवहार और आविष्करण के लिये उपकरण मात्र हैं। ज्यों २ "अहम्" गति करता है त्यों २ प्रत्येक का महासमुद्र आगे रहता है।

आप के लिये अच्छा होगा कि आप जीवन की विश्व-व्यापकता को भी समझते रहते हैं। विश्व का सर्वस्व जीवन-मय है। जीवन शक्ति और गति में कम्पायमान हो रहा है और लहरा रहा है। विश्व में कुछ भी मृतक नहीं है। जीवन सर्वत्र है और सर्वदा चेतना के सहित है। हम लोग मृतकसागर में बहते हुए जीवन के परमाणु नहीं हैं, किन्तु हम लोग उस जीवन-सागर में जीवन के परमाणु हैं, जो जीवन से लहरा, चल, सोच और जी रहा है। जिसे हम भौतिक द्रव्य कहते हैं उसका भी प्रत्येक परमाणु जीवित है।

उसके साथ शक्ति है और वह सर्वदा चेतना और जीवन के सहित है। अपने चारों ओर हम जहां दृष्टि डालें, चाहे पशु-योनि की ओर, चाहे स्थावर योनि की ओर, यहां तक कि खनिज पदार्थों की ओर भी, हमें सर्वत्र ही जीवन, जीवन, दिखाई देता है, सब जीवित और चेतना लिये हुए हैं। जब हम इस विभावन को वास्तविक चेतना के क्षेत्र में लाते हैं, जब हम इस बात को केवल बुद्धि से समझते ही नहीं, किन्तु चारों ओर इस विश्वव्यापी जीवन का अनुभव और चेतना प्राप्त करते हैं, तब हम विश्वचेतना के प्राप्त कर सके [illegible] मार्ग पर हैं। [illegible] अच्छी तरह पहुँच जाते हैं। हम

परन्तु ये सब बातें मनुष्य के लिये आत्मा और [illegible] एकता के अनुभव तक पहुँचने में सोपान मात्र हैं। [illegible] के ऊपर क्रमशः उस अनुभव का उदय होने लगता है कि परमात्मा से आत्मा के आविर्भाव में एकता है, यह एकता अपने में और परमात्मा के साथ है। परमात्मा से आत्मा का यह आवि-र्भाव, यह दैवी सन्तानों का उत्पन्न करना, केवल एक ही क्रिया की प्रकृति में था, न कि क्रियाओं की शृंखला में, यदि हम आविर्भाव को क्रिया कह सकें। इस आत्मसमुद्र में प्रत्येक जीव चेतना का केन्द्र है, प्रत्येक जीव वास्तविक आपा है, यद्यपि प्रगट अन्यों से और अपने मूल से पृथक् जनाई पड़ता है, परन्तु यह पृथकता दोनों दशाओं में केवल जाहिरा मात्र है, क्योंकि विश्वों के विश्व के जीवों में एकत्व का घना से घना बन्धन है, प्रत्येक दूसरे के साथ घने से घने बन्धन में जुटा है, और प्रत्येक उस परम् पुरुष से आत्मिक तन्तुओं

द्वारा नथा हुआ है, यदि हम ऐसे शब्दों का प्रयोग कर सकें। समय आने पर हम इस परस्पर सम्बन्ध का त्यों त्यों अधिक अनुभव करेंगे ज्यों २ हमारे आवरण अनुपयुक्त होकर हमसे पृथक् होते जायँगे और अन्त में हम परम पुरुष में खिंच जायँगे, परम् पिता के महलों में प्रवेश पा जायँगे।

विकसते हुए जीव के लिये यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि इस सम्बन्ध और एकता के अनुभव में खिल जाय, क्योंकि जब यह भावना एक बार पूरी रीति से दृढ़ अंकित हो जावेगी तो जीव नीचे के कुछ लोकों से ऊपर चढ़ जाने के योग्य हो जायगा और कुछ उन बन्धनों से छुटकारा पा जायगा जो अविकसित जीवों को बांधे हुए हैं। इसी लिये योगी गुरु लोग अभ्यासियों को लगातार इसी ओर ले जाते हैं पहले इस मार्ग से, तब उससे, अभीष्ट स्थान के भिन्न २ पटल दिखाते रहते हैं, जब तक शिष्य को अपने चरणों के अनुकूल उत्तम से उत्तम पथ नहीं मिल जाता। जब यह पथ मिल जाता है तब शिष्य सीधा लक्ष्य पर पहुँचता है और बांधनेवाले बन्धनों को, जो इतने दुखदायी थे, फेंक कर अपनी नई पाई हुई स्वतन्त्रता पर आनन्द से ध्वनि कर उठता है।

नीचे लिखे हुए अभ्यास और मानसिक साधन इस उद्देशय से दिये जाते हैं कि शिष्य को जीवन और सत्ता की पूर्ण समष्टि के साथ अपने सम्बन्ध के अनुभव की जागृति में सहायता मिले।

मानसिक साधन।

(१) विषय अर्थात् भौतिक द्रव्य पर चित्त लगाइये। अनुभव कीजिये कि सब भौतिक द्रव्य मूल में एक हैं, इन भौतिक द्रव्यों का मूल तत्व एक आकाश या ईथर है, और इसके सब नाना प्रकार के रूप जो हमारी इन्द्रियों पर विदित होते हैं उसी मूल तत्व के स्थूल रूप और विकार हैं। अनुभव कीजिये कि जानी हुई वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा भौतिक द्रव्य के सब जाने हुए रूप, या यों कहिये कि सब योजनायें जो रूपों में परिणत होती हैं, अपने प्रारंभिक तत्वों में पृथक् की जा सकती हैं और ये सब तत्व केवल एक आकाश के भिन्न रूपान्तर कम्प की भिन्न २ मात्राओं के कारण हैं। इस दृश्य विश्व की एकता की भावना अपने मन में खूब गहरी अंकित कर लीजिये कि जिससे वह वहाँ जम जाय। पार्थिव जगत् के अनन्त भेदों की भ्रान्त भावना के स्थान पर एकता का अनुभव कीजिये कि भिन्न २ अनेक रूपों का आभास होते हुए भी मूल में एकता है। भौतिक द्रव्यों के अनन्त रूपों के मूल में विषय के उस महत् तत्व आकाश या ईथर को देखिये जो सब के पीछे, भीतर और नीचे व्याप रहा है। इसको बुद्धि से भी समझिये और अन्तःकरण से अनुभव कर लीजिये।

(२) ऊपर लिखी यथार्थ बातों पर ध्यान कीजिये और तब इस भौतिक द्रव्य के तत्वावधान में आगे चलिये। यह आकाश जो सब तत्वों का मूल है, बल या शक्ति का आविर्भाव है। आकाश और शक्ति को पृथक् करनेवाली जो

सीमा की रेखा है उसका लोप हो सकता है, तब आकाश और शक्ति एक ही वस्तु अनुभूत होंगे। जिस वस्तु का एक सिरा आकाश है और दूसरा छोर शक्ति है। इस तरह भौतिक द्रव्य शक्ति ही का स्थूल रूपान्तर है। इस भावना को समझ पर खूब अच्छी तरह अंकित कर लेना चाहिये कि जिससे एकता के ज्ञान का भवन सब प्रकार से पूर्ण हो जाय।

(३) अब इस बात पर विचार कीजिये कि सब प्रकार की शक्ति या बल एक ही शक्ति का आविर्भाव और रूपान्तर है। विचार कीजिये कि कैसे एक प्रकार की शक्ति दूसरे प्रकार में परिवर्तित होती है और की जाती है। इसी तरह करते २ आप को मूल में एक ही शक्ति (आद्याशक्ति) मिलेगी जिसने सब शक्तियों की शृंखला को उत्पन्न किया है। इस बात का अनुभव कीजिये कि आप के भीतर जो शक्ति है जिसके बल से आप गति और क्रिया करते हैं, वह भी, शक्ति के इस महत् तत्व के, जिससे सारा विश्व भर रहा है, रूपों में से एक है, और आप आवश्यक शक्ति को शक्ति के विश्वभाण्डार से ले सकते हैं। सबके ऊपर इस भावना को ग्रहण कर लीजिये कि सारी शक्ति, बल और गति में एकता व्याप रही है। उसका प्रगट पृथक् २ रूपों के स्थान पर वास्तविक एक पूर्ण समष्टि रूप में देखिये। ये क्रम आप को कुछ थकावट देने वाले और व्यर्थ प्रतीत होंगे, परन्तु हमारे वचन का विश्वास कीजिये कि ये सब आप के मन को सबकी एकता की भावना को ग्रहण करने के योग्य बनाने में सहायक हैं। प्रत्येक कदम आवश्यक है और अगले ऊंचे कदम को प्राप्त

कराने में आसानी पहुँचाता है। इस मानसिक साधना में विश्व को लगातार गति करते हुए कल्पना करना अच्छा होगा। प्रत्येक वस्तु गति कर रही है, प्रत्येक भौतिक चल रहा है और अपना रूप बदल रहा है और अपने भीतर की शक्ति को प्रगट कर रहा है। सूर्य और दुनियाएँ आकाश में होकर दौड़ रहे हैं, उनके कण लगातार बदल और चल रहे हैं। रासायनिक संघट्टन और विघट्टन लगातार और अविश्राम हो रहे हैं, सर्वत्र निर्माण और विच्छेदन के कार्य हो रहे हैं। परमाणुओं और दुनियाओं की नई योजनाएँ हो रही हैं और लय हो रही हैं। शक्ति के तत्व की एकता के इस विचार के पश्चात् यह सोचिये कि इन रूपों के परिवर्तन में होकर जीव, असली आपा, आप परिवर्तनहीन और अक्षत बने हुए हैं, नित्य, अदम्य, अक्षर, अक्षत, असली और इस परिवर्तनशील रूप और शक्ति के संसार में एक रस बने हैं। आप इस सब के परे हैं, और यह सब आपके—आत्मा के—गिर्द घूम रहा है।

(४) अब आप यह विचार कीजिये कि यह सब बल और शक्ति मानसतत्व से प्रगट हुआ है। अनुभव कीजिये कि मन ही मूल आधार है, जहाँ से वह बल और शक्ति प्रकाशित हुई है, जिसके विषय में आप विचार कर रहे हैं। तब आप मन की एकता को विचार सकेंगे।

(५) अब मानसतत्व अर्थात् चित्त का विचार कीजिये। अनुभव कीजिये कि मानसतत्व का एक वृहत् संसार फैला हुआ है अर्थात् एक विश्वव्यापक मन है, जो जीव के अधि-

कार में है। सब विचार जीव के इसी मानसतत्व के व्यवहार
करने से उत्पन्न होता है, यह जीव का उपकरण और औजार
है। अनुभव कीजिये कि यह मानस-समुद्र समस्त और पूर्ण है
और जीव इसमें से स्वच्छन्द शक्ति खींच सकता है। अनुभव
कीजिये कि आप इस मानस समुद्र को, जब आप इसके
व्यवहार करने के लिये पूरे विकासित हो गये हैं तब अपनी
आज्ञा में रखते हैं। इस बात का अनुभव कीजिये कि मन ही
इस नाम, रूप और क्रिया के संसार का मूल, मध्य और
अन्तिम विश्वास सब कुछ है, और उसी भाव में "सब मनो-
मय है" यद्यपि सोपान में इस मन से भी ऊँचे आप हैं—
असली आपा—जीव—परमपुरुष का आविर्भाव।

(६) अपने सम्बन्ध और अपनी एकता को सर्व जीवन के
साथ अनुभव कीजिये। अपने चारों ओर जीवन को सब रूपों
में, छोटे से छोटे से लेकर बड़े से बड़े तक में देखिये, सब जीवन
के उस एक महत् तत्व के प्रदर्शन हैं, जो मार्ग सोपान की
भिन्न भिन्न श्रेणियों में कार्य कर रहे हैं। नीच से नीच रूप
से भी घृणा मत कीजिये, परन्तु इस रूप के पीछे देखिये, वहां
असलियत—जीवन—दिखाई देगा। अपने को विश्वव्यापी
जीवन का एक अंश अनुभव कीजिये। अपने विचार को
समुद्र की गहराई में चले जाने दीजिये और अपनी उस महत्
जीवन के साथ एकता का अनुभव कीजिये, जो रूपों का मूल
होकर वर्तमान हो रहा है। रूपों को (जो प्रायः तुम्हारी व्यक्ति
को घृणित प्रतीत हो रहे हैं) उनके मूल तत्व से मत गड़बड़ा-
इये। पौधों के जीवन और जन्तुओं के जीवन को उनके रूप

के आवरण के पीछे देखिये कि असली जीवन पीछे और अन्तःकरण में वर्तमान है। इस बात का अनुभव करना सीखिये कि आपका जीवन उन अन्य जीवनों के जीवनतत्व के साथ लहरा और उमँग रहा है। नक्षत्रों से भरे आकाश की ओर ताकिये और वहाँ अनगिनत सूर्यों और दुनियाओं को, जो करोड़ों, अरबों रूप के जीवन से आबाद हैं, देखिये और अनुभव कीजिये कि आपका जीवन भी तन्मय है। यदि आप इस विचार और चेतना को ग्रहण कर सकेंगे तो आप अपने को उन भ्रमण करनेवाली दुनियाओं के साथ एक पावेंगे; और अपने को अपेक्षाकृत छोटा और तुच्छातितुच्छ समझने के स्थान पर आप अपने आपे के विस्तार से अभिज्ञ हो जायँगे और अनुभव करने लगेंगे कि उन भ्रमणकर्त्ता दुनियाओं में आप ही का अंश है—आप ही इस भूमि पर ठहरे हुए भी वहां भी हैं—आप विश्व के सब अंगों के साथ एक हैं—केवल इतना ही नहीं किन्तु वे आपका वैसा ही निवासस्थान हैं जैसा यह स्थान है जहां आप स्थित हैं। आप अपने ऊपर चेतना की इस भावना का आवेश होते ही पावेंगे कि विश्व भर आपका घर है—विश्व का केवल एक अंग ही आपका घर नहीं है, जैसा आप पहले समझते थे। आप ऐसी महत्ता, विस्तार और उच्चता के भाव का अनुभव करेंगे जैसा कि कभी आपने स्वप्न में भी न किया होगा। आप अपने को परमात्मा की सन्तान होने का कुछ कुछ भाव अनुभव करने लगेंगे और यह जान जायँगे कि आप निश्चय अनन्त पुरुष की सन्तान, परम पिता की सत्ता के प्रकाश, अपनी सत्ता के अंश अंश में हैं।

अनुभव के ऐसे समयों में मनुष्य उन बातों से भी अभिज्ञ हो जाता है जो उसके उच्च मार्ग में हैं, और दुनिया की बड़ी से बड़ी निधि भी जब इन बातों में से किसी एक की भी तुलना में जीव के सम्मुख आध्यात्मिक मानस की स्पष्ट दृष्टि में रक्खी जाती है तो कितनी तुच्छातितुच्छ प्रतीत होती है।

आप जीव की इस महत्ता के दृश्यों के साथ विवाद मत कीजिये, वरन् सत्कार का व्यवहार कीजिये क्योंकि वे आप ही के हैं, आपके आध्यात्मिक मानस के लोक से आये हैं और चेतना में विकस रहे हैं।

(७) सब की एकता की उदय होती हुई चेतना की ऊँची से ऊँची श्रेणी वह है जहाँ यह अनुभव होता है कि असलियत एक है और चेतना की इस भावना का भी अनुभव होता है कि "अहम्" उस असलियत में है। इस विचार का शब्दों में प्रगट करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह ऐसी बात है कि जिसका अनुभव किया जाय और न कि बुद्धि द्वारा इसे देखा जाय। जब जीव यह अनुभव करता है कि उसके भीतर की आत्मा ही अन्त में उसका असली भाग है और परमात्मा तथा उसका विकाश आत्मा ही विश्व में असली वस्तु है, तब एक बड़ी भारी मंजिल रास्ते की तय हो जाती है। परन्तु एकता और असलीयत की पूरी भावना के मिलने के पहले एक और भी ऊँची मंजिल तय करनी पड़ती है। यह वह मंजिल है जिसमें "अहम्" की एकता का अनुभव विश्व के महत् "अहम्" के साथ होता है। परम पुरुष की आत्मा में आविर्भूत होने की गूढ़ता हम लोगों से छिपाई गई है—मन

उस पर्दे के छेदने में जो परम पुरुष को हमारी दृष्टि से छिपाये हुए है, असमर्थता प्रगट करता है, यद्यपि वह सूचना देता है कि मैं परम पुरुष के सीमा के ठीक उस पार वर्तमान होने से अभिज्ञ हूँ। परन्तु आध्यात्मिक मन की ऊँची से ऊँची भूमिका भी, जब उन उच्च जीवों द्वारा खोज की जाती है, जो मार्ग में बहुत आगे बढ़ गये हैं, तो यह सूचना देती है कि मैं आत्मा की आत्मा से पृथकता के परे देखती हूँ, और अनुभव करती हूँ कि आत्मा की असलीयत एक है और सब "अहम्" उस एक के भिन्न भिन्न दृश्य हैं, उस एक महत् "अहम्" की सतह पर अनेक केन्द्र हैं, जिसका केन्द्र स्वयम् परम पुरुष है। आध्यात्मिक मन की सारी भूमिका में यही निश्चय वर्तमान है और हम सब लोगों को आत्मा की एकता की सूचना देता है, ठीक उसी प्रकार जैसे बुद्धि भौतिक द्रव्य, शक्ति और मन की एकता की सूचना देती है। एकता की भावना जीवन की सब भूमिकाओं में वर्तमान है।

"अहम्" की सत्यता की भावना जो आपको आपकी स्पष्ट मानसिक दृष्टि की तरंगों में प्रगट होती है वह वस्तुतः सम्पूर्ण की सत्यता की भावना का प्रतिबिम्ब—वह सम्पूर्ण की चेतना है जो आपके केन्द्र या आपकी चेतना में होकर आविर्भूत हो रहा है। आगे बढ़ा हुआ शिष्य या अभ्यासी अपनी चेतना को क्रमशः तब तक फैलती हुई पाता है, जब तक वह सम्पूर्ण के साथ अपनी एकता का अनुभव नहीं करता। वह मनुष्य अनुभव करता है कि दृश्य संसार के सब रूपों और नामों के नीचे एक जीवन—एक बल—एक सत्ता—एक पदार्थ—एक

असलीयत—एक—पाई जाती है। और अपने व्यक्तित्व तथा अस्तित्व के खो देने की भावना अनुभव करने के स्थान में वह अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के बढ़ते हुए विस्तार से अभिज्ञ हो जाता है—अपने को सम्पूर्ण में लय हो जाने के स्थान में वह अनुभव करता है कि वह फैल रहा है और सम्पूर्ण को अपने में धारण कर रहा है। इसका शब्दों में प्रगट करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस भावना के अनुकूल शब्द ही नहीं हैं, और जो कुछ करने की हम आशा कर सकते हैं वह यह है कि अपने शब्दों द्वारा उन लहरों को संचालित कर दें, जो पढ़नेवालों के चित्त में ऐसी उत्तेजना प्रगट कर दें कि जिससे वे मनुष्य ऐसी चेतना का अनुभव करने लगें जो स्वयम् समझा देगी। यह चेतना बुद्धि से प्रेरित शब्दों द्वारा नहीं उत्पन्न की जा सकती, परन्तु लहरें संचालित की जा सकती हैं जो मन को तैयार कर देंगी कि वह अपनी उच्च भूमिकाओं से आये हुए सन्देश को ग्रहण कर सके।

उदय होती हुई चेतना की प्रारम्भिक दशा में भी मनुष्य इस योग्य हो जाता है कि अपने असली भाग को उन जीवन के अन्य रूपों के असली भाग से एक कर सकें जो उसके ध्यान के सम्मुख आवें। प्रत्येक अन्य मनुष्य में, प्रत्येक जन्तु में, प्रत्येक पौधे में, प्रत्येक खनिज पदार्थ में, वह आवरण और आभास के रूप के पीछे आत्मा के उस अस्तित्व का प्रमाण पाता है, जो उसके आत्मा का एक वंशीय है—एक वंशीय ही नहीं, किन्तु इससे भी अधिक, क्योंकि दोनों एक ही है। वह सर्वदा और सर्वत्र अपने को जीवन के सब रूपों में देखता

है । वह अनुभव करता है कि असली आत्मा सर्वत्र वर्तमान और नित्य है, और उसके भीतर का जीवन सम्पूर्ण विश्व के भीतर का जीवन है—प्रत्येक वस्तु में वर्तमान है, क्योंकि विश्व में कोई भी वस्तु मृतक नहीं है, और सब जीवन अपनी सब भिन्न भिन्न अवस्थाओं में, केवल एक ही जीवन सब के द्वारा साझे में धारण, व्यवहार और भोग किया जाता है। जीवन के इस महासमुद्र में प्रत्येक जीव चेतना का केन्द्र है, और यद्यपि प्रगट में प्रथक् और भिन्न प्रतीत होता है तथापि वह वस्तुतः सम्पूर्ण के साथ और प्रत्येक प्रगट भाग के साथ जुटा हुआ और संलग्न है ।

इस पाठ में हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हम जीवन की इस महती गूढ़ता की व्याख्या में प्रवेश करें, या उस सत्यता का थोड़ा भी उल्लेख करें, जिसे बड़े २ आचार्यों और गुरुओं ने प्रगट किया है। यहाँ उस बात के लिये स्थान नहीं है, वह राज योग का विषय न होकर ज्ञान योग का विषय है, और हम उसका यहां केवल स्पर्शमात्र कर देते हैं। आपको उसका वैज्ञानिक अंग समझाने के लिये नहीं, किन्तु, इस अभिप्राय से कि आप लोगों के मन उत्सुक हों कि इस भावना को धारण कर लें और इस चेतन अनुभव में क्रमशः विकसावें। ज्ञानयोग के वैज्ञानिक बुद्धि सम्बन्धी उपदेशों में, जिनके द्वारा योग शिक्षा का वैज्ञानिक और दार्शनिक अंग शिष्यों के मन पर तार्किक और वैज्ञानिक रूप में उपस्थित किया जाता है, और राजयोग में, जहाँ अभ्यासी क्रमशः अपनी प्रकृति और शक्ति की उस चेतना को पहुँचाया जाता है जो केवल

बुद्धि सम्बन्धी विश्वास के परे है। हम लोग राजयोग के तरीके से चल रहे हैं क्योंकि यह राजयोग की शिक्षा का पाठ है। हम इस विषय को मन के सम्मुख इस भाँति उपस्थित करने की चेष्टा कर रहे हैं कि इससे उदय होती हुई चेतना के लिये प्राक्कलिपत विचारों और दुराग्रहों को झाड़ बुहार कर मार्ग तैय्यार कर दिया जाय, जिससे नई भावना के प्रवेश के के लिये द्वार साफ रहे। इस पाठ में जो कुछ हमने कहा है उसका अधिकांश भाग एक ओर तो व्यर्थ पिष्टपेषण प्रतीत होगा और दूसरी ओर योगशिक्षा के ज्ञान की अपूर्ण व्याख्या जान पड़ेगी। परन्तु समय आने पर विदित हो जायगा कि इसका यह असर होगा कि जीवन की एकता और आपे के विस्तार की भावना को धारण कर लेने से शिष्य के मन में एक महान परिवर्तन उपस्थित हो जायगा। अभ्यासी से आग्रह पूर्वक कहा जाता है कि वह इस विषय में अति शीघ्रता न करे। विकाश बल का प्रयोग करने से नहीं होता। जो कुछ हमने लिखा है उसको पढ़िये, और जो हमने मानसिक साधन दिये हैं उसका अभ्यास कीजिये, यद्यपि वह आप में से किसी २ को तुच्छ और बालखेल भी प्रतीत होते हों। हम जानते हैं कि उसका क्या असर आप पर पड़ेगा, और समय आने पर आप भी हमारे साथ सहमत होंगे। शनैः २ शीघ्रता कीजिये। आपको विदित हो जायगा कि मन ही इस विषय में कार्य कर लेगा, यद्यपि आप अपने साधारण कामों में फँसे रहेंगे और इस विषय को कुछ समय के लिये भुला भी दिया होगा। मानसिक कार्यों का बड़ा भाग इसी प्रकार सम्पादित

होता है, जब आप अन्य काम में लगे हैं, अथवा सो गये हैं, क्योंकि मन का अनुद्बुद्ध भाग उसी पथ पर काम करता रहेगा जो उसे बता दिया गया है, और अपने कर्तव्य कार्य को पूरा कर देगा।

जैसा हम कह आये हैं, इस पाठ का अभिप्राय आपको चेतना के विकाश के मार्ग पर लाना है, न कि आप को योग शिक्षा के वैज्ञानिक भाग के विस्तार की शिक्षा देना है। राज-योग का महामंत्र विकास है। हम जो "अहम्" की असलीयत और आप के विस्तार की भावना को इस स्थान पर विकसाया चाहते हैं उसका कारण यह है कि इससे आप विषय अर्थात भौतिक द्रव्य, शक्ति और मानस पर अपना अधिकार स्थापित कर सकेंगे। राजा होकर सिंहासन पर बैठने के पहले, आपको चेतना में इस बात का अनुभव करना होगा कि इस आभास की दुनिया में आप असलीयत-हैं। आप को अवश्य अनुभव करना होगा कि आप, असली आप, केवल वर्तमान और वास्तविक ही नहीं हैं किन्तु आप उस सब से संलग्न हैं, जो वास्तविक है, और आप की सत्ता का मूल परम् पुरुष में है। आपको अवश्य अनुभव करना होगा कि आप सत्यता के पृथक् परमाणु, जो अलग संकीर्ण स्थान में पड़ा है, होने के स्थान पर आप सारी सत्यता (असलियत) में चेतना के केन्द्र हैं और विश्वों का विश्व आप का घर है और चाहे चेतना का आपका केन्द्र किसी ऐसे स्थान पर चला जाय जो पृथ्वी से सौ अर्बों खर्बों मील के फासले पर हो (यह दूरी कुछ भी नहीं है) तौ भी जगा हुआ

जीव वहां वैसे ही अपने घर में होगा जैसे यहां है, और यद्यपि आप यहाँ हैं तौ भी आप का प्रभाव दिशाओं में बहुत दूर फैल रहा है। आपकी वास्तविक अवस्था, जो आप पर क्रमशः काल की गति में विदित होगी, इतनी वृहत् और महत् है कि आप का मन, विकाश की इस वर्तमान अवस्था में, उस महती ज्योति के धुँधले प्रतिबिम्ब को भी ग्रहण नहीं कर सकता।

हमारी इच्छा है कि आप अपनी सत्ता की वास्तविक अवस्था की भावना करने की, चाहे वह बहुत धुँधली ही क्यों न हो, चेष्टा कीजिये, जिससे आप जगी हुई आकांक्षा के बल से अपने नीच भावों पर शासन रख सकें। यह आकांक्षा वस्तुतः आप के विकाश के परिमाण पर अवलम्बित है।

ज्यों ज्यों मनुष्य वास्तविक आपे की समझ और चेतना में उन्नति करता है त्यों त्यों आकांक्षा को प्रेरणा करने की उसकी योग्यता बढ़ती जाती है। आकांक्षा वास्तविक आपे की खासियत (गुण) है। यह बहुत ही अच्छा है कि वास्तविक आपे के इस महत् अनुभव से जीवन के सब के साथ प्रेम, और दया उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो जो अपनी वास्तविक सत्ता के अनुभव में वृद्धि करता उसकी जगी हुई आकांक्षा उन जीवों की हानि के लिये भी प्रयुक्त हो सकती, जो इतनी उन्नति न किये होते (यहां हानि से अभिप्राय सापेक्ष हानि का है, क्योंकि अन्ततोगत्वा हानि तो किसी जीव की होही नहीं सकती)। परन्तु उदय होती हुई शक्ति अपने साथ अधिक अधिक प्रेम और दया लाती है, और जीव

ज्यों ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है त्यों त्यों उच्च उच्च आदर्शों से भरता जाता है और नीच पाशविक वृत्तियों को फेंकता जाता है। यह बात सत्य है कि कुछ जीव अपनी असली प्रकृति की चेतना में उन्नति कर के और बिना समझे बूझे कि इस सब का क्या मतलब है, अपनी जगी हुई आकांक्षा को खुदगर्जी के कामों में व्यवहार करने की गलती कर सकते हैं, जैसा कि बाममार्गियों के विषय में गूढ़ार्थ लेखों में पाया जाता है या जैसा कि ऐतिहासिक और आधुनिक विख्यात मनुष्यों में पाया जाता है कि वे बहुत जगी हुई आकांक्षा तो पा गये हैं पर उसका कुप्रयोग करते हैं। इस जगी हुई बड़ी आकांक्षा वाले मनुष्यों की श्रेणी के सब मनुष्य संयोगवशात् अपनी असली प्रकृति की चेतना (या खंड चेतना) में जग जाने की क्रिया अज्ञात रूप में पा गये हैं, पर ये लोग उच्च शिक्षा के शासनकारी प्रभावों को नहीं पा सके। परन्तु आकांक्षा का ऐसा कुप्रयोग प्रयोक्ता को दुःख और अशान्ति लाता है और अन्त में ऐसा मनुष्य बलपूर्वक सही रास्ते पर लाया जाता है।

हम यह प्रबल आशा नहीं करते कि शिष्यगण इस आपे के विस्तर की पूरी भावना ग्रहण कर लेंगे। ऊँचे से ऊँचा शिष्य भी खंडित ही भावना को ग्रहण कर पाता है। परन्तु जब तक चेतना की टिमटिमाती हुई ज्योति को आप न पावेंगे तब तक राजयोग मार्ग में आप बहुत उन्नति न कर सकेंगे। आपको समझना होगा कि आप क्या हैं, तब आप उस शक्ति को व्यवहार करने के योग्य होंगे जो आपके भीतर गुप्त पड़ी है। आपको अनुभव करना होगा कि आप स्वामी हैं, तब

आपको स्वामी के अधिकार मिलेंगे और तब आपकी आज्ञाओं का पालन होगा। इसलिये धैर्यपूर्वक हमारे (अर्थात गुरु के) साथ रहिये और हम आपको शिक्षा देते रहेंगे। रास्ता लम्बा और कहीं कहीं बीहड़ है, पर थक जा सकते हैं और मोच खा जा सकते हैं, परन्तु पुरस्कार बड़ा भारी है और रास्ते पर कहीं २ विश्राम के भी स्थान हैं। यदि आपकी गति धीमी प्रतीत हो तो भी हिम्मत न हारिये, क्योंकि जीव को स्वाभाविक ही रीति से विकसना होगा, जैसे फूल विकसता है, आतुरी नहीं, बलप्रयोग नहीं।

यदि कभी २ आपको अपने उच्च आपे की झांकी मिल जाय तो आप भयभीत न हूजिये। एम० सी० लाइट आन दी पाथ (Light on the Path) नामक किताब की व्याख्या में कहती हैं कि अपने जीव को खिला हुआ देखना अपने उस रूप की क्षणिक झांकी है जो तुम्हें अन्त में मनुष्य से कुछ और अधिक बनावेगा, उसका पहचानना तो बड़ा भारी काम, अर्थात चकाचौंध के प्रकाश को अनिमेष एक टक देखना, है, और भयभीत होकर पीछे न हटना होगा जैसे भयंकर दृश्य से हटा जाता है। यह किसी २ को प्राप्त होता है, और ज्योंही इस प्रकार की विजय होती है, त्योंही सब कुछ खो जाता है।

आप के साथ शान्ति विराजे।

तीसरे पाठ के मंत्र।

भौतिक द्रव्य का एक अन्तिम रूप है, शक्ति का एक अन्तिमरूप है, मन का एक अन्तिम रूप है। भौतिक द्रव्य

शक्ति से उत्पन्न होता है, शक्ति मन से उत्पन्न होती है, और सब उस परम पुरुष का प्रभव है, प्रगट में त्रिविध पर वास्तव में एक। जीवन एक है, और वही विश्व में व्याप रहा है, अनेक रूपों में आविर्भाव कर रहा है, परन्तु अन्त में केवल एक है। मेरी देह विश्व के भौतिक द्रव्य के साथ एक है, मेरा जीवट-बल और प्राण विश्व-प्राण के साथ एक है, मेरा मन विश्वमन के साथ एक है, मेरा जीवन विश्वजीवन के साथ एक है। परमपुरुष ने अपने को आत्मा में प्रगट और आविर्भूत किया है, जो असली "अहम्" है और प्रगट के अनेक "अहम्" को अपने में धारण किये और आवेष्टित किये हैं। "मैं" आत्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव करता हूँ और सब सत्यता का अनुभव करता हूँ। मैं सब आत्मा के साथ अपनी एकता प्रतीत करता हूं, और मेरी (आत्मा में होकर) परमात्मा के साथ एकता है। मैं अनुभव करता हूँ कि "मैं" परम् पुरुष का प्रभव और आविर्भाव हूँ और उसका सार मेरे भीतर है। मैं परमेश्वरीय प्रेम से भरा हुआ हूँ। मैं आत्मा, सत्ता और प्रकृति की एक अस्लीयत के साथ एकता से अभिज्ञ हूं।

---*---

चौथा पाठ

मानसिक शासन

इस शिक्षा के प्रथम तीन पाठों में हमने आपके मन में इन बातों के अनुभव को लाने का यत्न किया है। (१) "अहम्" की चेतना, उसका शरीर से स्वतंत्र और परे होना, उसकी अमरता, उसकी अदम्यता और अक्षयता, (२) मन के ऊपर "अहम्" का महत्व, शरीर पर महत्व, यह ज्ञान कि मन "अहम्" नहीं है, परन्तु "अहम्" के प्रगट होने का एक औज़ार मात्र है, यह बात कि "अहम्" मन का स्वामी है वैसे ही शरीर का भी स्वामी है, "अहम्" सब बिचारों के पीछे (प्रेरक) है, "अहम्" विचार के लिये वेदनाओं, भावनाओं, वृत्तियों, कामनाओं और सब मानसिक अवस्थाओं को पृथक् कर सकता है, और तब भी अनुभव कर सकता है कि "अहम्" इन मानसिक अभिव्यक्तियों से परे है, और अपरिवर्तित, असल और पूरे तौर से वर्तमान रहता है, "अहम्" अपने सब और प्रत्येक मानसिक उपकरण और औजार और "अहम्" से भिन्न वस्तु को पृथक कर सकता है, और तो भी चेतनापूर्वक अनुभव कर सकता है कि इस पृथक करने पर भी कुछ बात शेष रह जाती है, वह बात स्वयम् "अहम्" है जो पृथक हो ही नहीं सकता न हटाया जा सकता है। "अहम्" मन का मालिक है न कि उसका दास, (३) "अहम्" बहुत बड़ी चीज है उस छोटे व्यक्तिगत "अहम्" की अपेक्षा, जिसे

हम अब तक ख्याल करते थे। "अहम्" उस महत् सत्य का एक अंग है जो विश्व में व्याप रहा है, वह जीवन के अन्य सब रूपों से अनगिनत लगावों द्वारा संलग्न है, ये लगाव मानसिक और आध्यात्मिक तन्तु और सम्बन्ध हैं। "अहम्" उस महत् सत्य अर्थात् आत्म में चेतना का केन्द्र है, जो सब जीवन और सत्ता के पीछे है, और जिसका केन्द्र परमपुरुष अर्थात् परमेश्वर है। सत्य की भावना जो "अहम्" के समवाय है, वह उस सत्य की भावना है जो सम्पूर्ण विश्व के समवाय में है—विश्व का महत् "अहम्" है।

इन तीनों पाठों का आन्तरिक तत्व "अहम्" की तद्गत-सत्यता है जो सब भौतिक द्रव्य (विषय) शक्ति और मानस के ऊपर विराजमान हो रही है, उन सबके ऊपर विध्यात्मक (हावी) है जैसे परस्पर एक दूसरे के ऊपर विध्यात्मक या निषेधात्मक हैं, और जो "अहम्" की सत्यता केवल उस एक के केन्द्र, स्वयम् परमपुरुष के सम्मुख निषेधात्मक है, और अब अभ्यासी या शिष्य के लिये इसी स्थिति को ग्रहण करना है कि "हम मन, शक्ति और विषय पर तो विध्यात्मक हैं और उन सब पर शासन करते हैं, हम केवल उस परमपुरुष के सम्मुख निषेधात्मक है जो उस सत्ता का केन्द्र है जिस सत्ता के हम अंग हैं। और जैसे मैं मन, शक्ति और विषय पर प्रभुता रखने का दावा करता हूँ और अपनी आकांक्षा का उनपर प्रयोग करता हूँ, उसी प्रकार उस परमात्मा के सम्मुख अपनी वश्यता स्वीकार करता हूँ और प्रसन्नतापूर्वक अपने

जीव को परमात्मिक आकांक्षा के प्रवाह और उसकी शक्ति, दृढ़ता और ज्ञान के ग्रहण के लिये खोल देता हूँ।

इस पाठ और इसके पश्चातवाले पाठों में हम शिष्य या अभ्यासी को अधीन आविर्भावों अर्थात विषय, शक्ति और मन के ऊपर प्रभुता प्राप्त करने में सहायता देने का यत्न करेंगे। इस प्रभुता या स्वामित्व के प्राप्त करने के अभिप्राय से उस उस वस्तु की प्रकृति से अभिज्ञ होना आवश्यक है जिस पर शासन करना है।

अब चित्त (अर्थात् मानस), प्राण (अर्थात शक्ति), और आकाश (अर्थात् विषय यानी पंच महाभूतों का मूल तत्व) इन तीनों की प्रकृति से अभिज्ञ होना आवश्यक है। मनुष्य का "अहम्" इन तीनों पर प्रभुता रखनेवाला है क्योंकि वह आत्मा है। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, विषय शक्ति और मन ये तीनों परमपुरुष के आविर्भाव और सापेक्ष वस्तु हैं। योगशास्त्र कहता है कि विषय आविर्भूत पदार्थों में सब से स्थूल पदार्थ है, क्योंकि यह शक्ति और मानस के नीचे है, इसलिये उनके सम्मुख निषेधात्मक है और उन दोनों के वशवर्ती है। विषय से एक काष्ठा ऊँचे शक्ति अर्थात बल है, जो विषय के लिये विध्यात्मक है, और उस पर शासन करता है (क्योंकि विषय इससे भी स्थूलतर पदार्थ है), परन्तु जो मन के सम्मुख, जो उच्चतम पदार्थ है, निषेधात्मक और वशवर्ती है। अब इन तीनों में सब से ऊँचा मन है, जो पदार्थ का सूक्ष्मतम रूप है और जो शक्ति और विषय दोनों पर प्रभुता रखता है अर्थात शासन करता है, क्योंकि

दोनों के लिये विध्यात्मक है। मन "अहम्" के सम्मुख निषेधात्मक और अधीन है, क्योंकि "अहम्" आत्मा है। मन उस "अहम्" की आज्ञा का पालन करता है जब आज्ञा दृढ़ और सुबोध दी जाती है। "अहम्" केवल परमपुरुष के अधीन है जो कि सत्ता का केन्द्र है, और वह शेष तीनों आविर्भावों—मन, शक्ति और विषय—पर विध्यात्मक प्रभु और शासक है।

"अहम्" जो उदाहरण के लिये विवश होकर पृथक् ख्याल किया जायगा (यद्यपि यह आत्मा के महत् पिण्ड में वस्तुतः चेतना का केन्द्र मात्र है) अपने को त्रिविधात्मक समुद्र अर्थात् मन शक्ति और विषय से आच्छादित पाता है। देह केवल पार्थिव रूप है जिसमें होकर विषय (भौतिक द्रव्य) की अविश्रान्त धारा बह रही है, क्योंकि जैसा कि आप जानते हैं शरीर के कण और परमाणु लगातार बदल रहे हैं, उनका नवीकरण, परिवर्तन, त्याग और नवस्थापन हो रहा है। किसी का कुछ वर्षों का पुराना शरीर अथवा यों कहिये कि उसको बनानेवाले कण अब चल दिये हैं और विषय के संसार में अब नये संवनन बनाए हुए हैं। मनुष्य का आज का देह भी चल रहा है और उसके स्थान पर नये कण जुट रहे हैं। आगामी वर्ष इसके देह में जो कण आवेंगे वे इस समय कहीं अन्यत्र हैं और अनगिनत अन्य संवननों के अंग हो रहे हैं और वहाँ से और उन संवननों से आ कर इस मनुष्य का आगामी वर्ष का देह बनावेंगे। शरीर में नित्य कोई वस्तु नहीं है, यहाँ तक कि हड्डियों के कण भी लगातार दूसरे नये कणों से बदले

जा रहे हैं। और यही मामला देह की जीवट शक्ति, व इस ताक़त का भी है, जिसमें दिमाग की ताकत भी सम्मिहै। यह सर्वदा खर्च हो रही है, व्यवहार में लग रही चित्त में उसके स्थान में नई शक्ति आ रही है। मनुष्य उसे बृत्ति परिवर्तनशील है और मानसतत्व अर्थात् चित्त कहा करते लग कर व्यय हो रहा है और उसके स्थान पर मान है और सागर से नई आमदनी हो रही है और चित्त का त्याग्नासिक अंश उसी महासागर में लौट जा रहा है; सब उसी भांतियही शक्ति और विषय की दशा थी।

हमारे शिष्यों में से अधिकांश जो थोड़ा बहुत वर्तमान वैज्ञानिक विचारों से अभिज्ञ हैं, ऊपर लिखी हुई विषय और शक्ति के समुद्र की भावना को तुरत समझ जायँगे और इसे भी समझ जायँगे कि इन दोनों वस्तुओं का मनुष्य का भाण्डार लगातार खर्च हो रहा और भरा जा रहा है, परन्तु उन्हें इस भावना के ग्रहण करने में थोड़ी बहुत कठिनता पड़ेगी कि मन भी एक द्रव्य या तत्व है जो उन्हीं नियमों के अन्तर्गत है। जिन नियमों के अन्तर्गत पदार्थ के वे दोनों आविर्भाव या गुण हैं, क्योंकि मनुष्य मन को इतना अधिक अपना आपा या "अहम्" समझे हुए हैं। यद्यपि हम अपनी इस शिक्षा के दूसरे पाठ में आपको बतला चुके हैं कि "अहम्" मानसिक अवस्थाओं के ऊपर है और वह इनको पृथक करके इन्हें "अहम्" से भिन्न वस्तु समझ और विचार सकता है, परन्तु विचार करने की आदत की शक्ति बड़ी प्रबल होती है, और आप लोगों में से कुछ जनों के लिये कुछ समय लग सकता है कि इस बात का

दोनों क त्र प्राप्त हो कि आपका मन भी ऐसी वस्तु है जिसका
निषेधात्म व्यवहार करते हैं और न कि वह आपका स्वयम् आप
उस "अहम् तौभी आपको इस अनुभव की प्राप्ति में लगा ही
और सुबोध ा क्योंकि जितना ही आप अपने मन के ऊपर
अधीन है ज ा का अनुभव करेंगे, उतना ही उसके ऊपर
आविर्भावों— अधिकार होगा और वह आपके वश में होगा।
और शासन जितना ही आपकी उसके ऊपर प्रभुता या अधि-
"अ
किया होगा उतना ही उस काम की विशेषता, उच्चता
और विस्तृति होगी जिसे आपका मन आपके लिये
करेगा। इसलिये आप समझ रखिये कि "अनुभव करने से अधिकार बढ़ता है—और अधिकार रखने से फल प्राप्त होता है। यह कथन राजयोग विज्ञान का मूल आधार है। इसकी बहुत सी प्राथमिक साधनाएँ इसी अभिप्राय से हैं कि मनुष्य इस अनुभव से परिचित हो जावे और अपने अभ्यास और आदत से इस अनुभव और अधिकार अर्थात् शासन को जगावे।

योगशास्त्र बतलाता है कि मन "अहम्" होने के स्थान पर ऐसा पदार्थ है कि जिसमें होकर और जिसके द्वारा "अहम्" सोंचता है कम से कम वहां तक जहां तक कि गोचर या बाह्य विश्व का ज्ञान सम्बन्ध रखता है, अर्थात् नाम और रूपवाला विश्व। एक और उच्चज्ञान "अहम्" के अन्ततम भाग में गुप्त संचित है जो उस ज्ञान से कहीं बढ़कर है जिसे वह बाह्य विश्व से या उसके विषय में प्राप्त करता है, परन्तु वह ज्ञान

इस समय हमारे विचार के लिये विषय नहीं है और हमें इस समय वस्तुओं के संसार के विषय में सोंचने में लगना है।

मानसतत्व को संस्कृत में चित्त कहते हैं और चित्त में जो एक लहर मन और शक्ति के मेल से उठती है उसे वृत्ति कहते हैं। वह उसी प्रकार की है जिसे हम विचार कहा करते हैं। दूसरे शब्दों में वृत्ति तो कर्म करता हुआ मानस है और चित्त विश्राम में मानस है। वृत्ति का ठीक अनुवाद मानसिक Whirlpool or Eddy (जल कल्लोल) है और ठीक यही बात विचार भी है।

परन्तु हम इस स्थान पर शिष्य के ध्यान को इस बात की ओर भी आकर्षित करेंगे कि योगी और अन्य गूढ़वादी लोग मन शब्द को दो भावों में व्यवहार करते हैं और शिष्य से अनुरोध किया जाता है कि प्रत्येक भाव का स्पष्ट विभावन कर ले कि जिससे आगे गड़बड़ न हो और वह वस्तुओं के उन दोनों पटलों को अधिक स्पष्टता से समझ ले जिन्हें प्रगट करने के लिये यह शब्द अभीष्ट है। पहली अवस्था में तो यह मन शब्द चित्त या मानसतत्व का पर्यायवाचक है जो विश्वव्यापी मानसतत्व है। इसी चित्त, मानसतत्व या मन से लाखों करोड़ों मनों की सामग्री प्राप्त की जाती है। मन शब्द का दूसरा अर्थ यह है कि जब हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य का मन तो यह अर्थ होता है कि अमुक मनुष्य की मानसिक शक्तियां, अर्थात वह वस्तु जो उसके मानसिक व्यक्तित्व को अन्य के व्यक्तित्व से पृथक करती है। हमने समझा दिया है कि मनुष्य का यह मन तीन भूमिकाओं में

कार्य करता है, और मन के उन तीनों अविर्भावों को हम (१) प्रवृत्तिमानस (२) बुद्धि और (३) आध्यात्मिक मन कहते हैं। ये तीनों भूमिकाएं जब एकत्र ख्याल की जाती हैं तो उसे मनुष्य का मन कहते हैं, या अधिक साफ इस तौर पर समझिये कि "अहम्" के गिर्द लपट कर व्यक्ति का जीव बनाती हैं। जीव शब्द को लोग आत्मा का पर्यायी सा व्यवहार करते हैं, परन्तु वे लोग जो हमारी बातों को समझ गये हैं, भेद अर्थात फ़र्क को समझ जायँगे। जीव वह "अहम्" है जो अपने मानसिक तत्वों से घिरा हुआ है और आत्मा जीव का जीव अर्थात "अहम्" या निज असली आपा है।

राजयोग का विज्ञान, जिसकी यह शिक्षा है, अपना मूल तत्व मन का शासन बतलाता है। इसकी यह धारणा है कि शक्ति की प्राप्ति का पहला चरण इसी में है कि अपने ही मन के ऊपर शासन रक्खा जाय। इसका यह विश्वास है कि बाह्य संसार के ऊपर आक्रमण करने के पहले भीतरी संसार को जीत लेना आवश्यक है। इसकी यह भी धारणा है कि "अहम्" अपने को आकांक्षा रूप में प्रगट करता है, और यह आकांक्षा स्वामी के मन और भौतिक शरीर को हस्तगत करने, नीत करने, शासित करने और प्रेरित करने में व्यवहृत हो सकती है। इसका उद्देश्य मानसिक सब मैलों और बाधाओं को दूर करना है, मानो मानसिक गृह की सफ़ाई कर देना है और मन का स्वच्छ निर्मल और स्वस्थ बना देना है। तब यह बुद्धिमत्तापूर्वक उस मन के ऊपर सफलता सहित शासन करने में, व्यर्थ शक्तियों का व्यय न करते हुये, और चित्त की

एकाग्रता द्वारा मन को आकांक्षा के राग में मिलाते हुए, लगती है कि जिससे यह अपने किरणकेन्द्र में एकत्रित हो जाय और इसकी शक्ति बहुत ही बढ़ जाय और इसकी कार्य्यक्षमता पूरी रीति से सुरक्षित हो जाय। एकाग्रचित्तता और आकांक्षा ही ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा योगी लोग ऐसी २ आश्चर्य्यजनक सिद्धियां प्राप्त कर लेते हैं और जिन के द्वारा वे अपने प्रबल और स्वस्थ मन का प्रबन्ध और उसकी प्रेरणा करते हैं और भौतिक संसार को, शक्ति और मन के ऊपर विध्यात्मक क्रिया करते हुए, वशीभूत कर लेते हैं। यह शासन मन की सब भूमिकाओं पर फैलता है, और योगी लोग केवल प्रवृत्ति मानस ही पर, उसकी नीच वृत्तियों को वश में करते हुए और उसके अन्य भागों को व्यवहार में लाते हुए, शासन नहीं करते, किन्तु वे अपनी बुद्धि के क्षेत्र को विकसित और विस्तृत बनाते हैं और उससे अद्भुत फल प्राप्त करते हैं। यहां तक कि आध्यात्मिक मन भी अधिकृत किया जाता है और उसके विकास में सहायता पहुँचाई जाती है और उसे प्रेरणा की जाती है कि वह अपने क्षेत्र के अद्भुत रहस्यों में से कुछ को चेतना के क्षेत्र में लावें। राजयोग के द्वारा अस्तित्व और सत्ता के बहुत से रहस्य, विश्व की अनेक पहेलियाँ साधी और हल की गई हैं। और इसके द्वारा मनुष्य की गुप्त शक्तियां विकसित की गई और व्यवहार में लाई गई हैं। जो लोग इस विज्ञान में बहुत ऊंचे चढ़े हुए हैं, उनके विषय में विश्वास किया जाता है कि वे विश्व की शक्तियों के ऊपर ऐसा अद्भुत अधिकार और शासन रखते हैं कि वे

साधारण मनुष्यों की तुलना में देवता हैं।

राजयोग बतलाता है कि केवल इसी प्रकार की शक्तियां ही नहीं प्राप्त की जातीं, किन्तु इसके अभ्यास से ज्ञान का अद्भुत क्षेत्र खुल जाता है। इसकी यह धारणा है कि जब एकाग्र मन किसी वस्तु या विषय की ओर प्रेरित किया जाता है तो उस विषय या वस्तु को यथार्थ प्रकृति उनके आभ्यन्तरिक अर्थ सम्मुख प्रगट हो जाते हैं। एकाग्र मन वस्तु या विषय में होकर इस प्रकार पार कर जाता है जैसे एक्साकिरण लकड़ी के कुन्दे में होकर पार कर जाती है, और वह पदार्थ "अहम्" द्वारा अपने यथार्थ रूप में, अपनी असलियत में, देखा जाता है और न कि उस प्रकार जैसे पहले अपूर्ण और भ्रान्त दिखलाई देता था। केवल वाह्य संसार ही इस प्रकार नहीं खोजा जा सकता, किन्तु, मानसिक किरण भीतर की ओर भी प्रेरित की जा सकती है और मन के गुप्तस्थान भी खोजे और ढूँढ़े जा सकते हैं। जब यह बात स्मरण रहेगी कि मन का वह छोटा अंश जो प्रत्येक मनुष्य के अधिकार में है, समुद्र की उस बूंद के समान है जो अपनी छोटी सीमा में उन सब तत्वों को धारण किये है जो समुद्र में हैं और बूंद को भली भांति जान जाना समुद्र को भली भाँति जान लेना है, तब हम लोग समझने लगेंगे कि इस शक्ति का वास्तविक अर्थ क्या है।

पश्चिमी संसार के बहुत से मनुष्य जिन्होंने पुरुषार्थ की बुद्धि सम्बन्धी और वैज्ञानिक क्षेत्रों में बड़ी २ योग्यताएं प्राप्त कर ली हैं, इन शक्तियों को थोड़ा या बहुत अज्ञातरूप में प्राप्त किये हुए हैं। बहुत से आविष्कारक आचरणात्मक योगी

हैं, यद्यपि वे नहीं जानते कि उनकी शक्ति का आदि मूल क्या है। जो मनुष्य एडिसन साहेब की मानसिक जाती खासियतों से आगाह है वह कह सकता है कि एडिसन साहब राजयोग के कुछ तरीक़ों के मुताबिक़ आचरण करते हैं और एकाग्रचित्तता उनका बहुत प्रबल औज़ार है। और जहां तक समाचार मिले हैं प्रोफ़ेसर एल्मर गेटस, वाशिंगटन डी० सी० के रहने वाले, जिनके मानस ने अनेक अद्भुत आविष्कारों को प्रगट किया है, वे भी क्रियात्मक योगी हैं, यद्यपि वे इस कथन को बड़े ज़ोर से अस्वीकार कर सकते हैं और यद्यपि वे इस विज्ञान के मूल तत्वों की अभिज्ञता नहीं प्राप्त किये हुए हैं, परन्तु वे इसकी क्रिया में अज्ञात रूप से पड़ गये हैं। जो लोग प्रोफेसर गेट्स के विषय में समाचार देते हैं वे कहते हैं कि प्रोफेसर साहब आविष्कारों को अपने में से खोद कर निकालते हैं अर्थात् वे एकान्त स्थान में जाकर अपने मन को एकाग्र करते हैं और मानसिक दृष्टि से देखने लगते हैं।

परन्तु हमने एक पाठ के लिये अब बहुत युक्ति और भूमिका दे दी और अब हमें आप को ऐसी शिक्षाएं देनी चाहिये जिनके द्वारा आप इन गुप्त शक्तियों को जगा सकें। आप देखेंगे कि इस शिक्षा में पहले हम युक्ति (कल्पना) देते हैं और तब साधन करने के लिये क्रियात्मक अभ्यास बतलाते हैं। यही योग सिखलाने का तरीक़ा है जिसका अनुसरण सभी बड़े योगी लोग करते हैं। बहुत युक्ति अर्थात् कल्पना शिष्य को उकता देती है और ऐसा राग अलापने लगती है कि मन सो जाता है और वैसे ही बहुत सा अभ्यास

भी मनुष्य को थका देता है और मनुष्य की जिज्ञासा के लिये उपयुक्त भोजन नहीं देता। दोनों बातों को समुचित मात्रा में रखना बेहतर तरीक़ा है और हमारा उद्देश्य इसी तरीक़े के अनुसरण करने का है।

मानसिक साधना और अभ्यास।

इसके पहले कि हम मन से अच्छा काम करावें पहले हमें चाहिये कि हम उसे जंगली से पालतू बनावें और "अहम्" की आकांक्षा का वशवर्ती बनावें। मन हमेशा की आदत के कारण वहशी बन गया है और अपनी ही मीठी मर्ज़ी और ख़्वाहिश के मुताबिक चलता है और किसी अन्य बात की कुछ परवाह नहीं करता। दुलरुआ लड़के या बुरी तौर से पाले हुए पालतू जानवर की भांति वह बड़ी २ कठिनाइयों में पड़ जाता है और बहुत कम मज़ा, आराम या फ़ायदा पहुँचाता है। हम लोगों में बहुतों के मन वन्य पशुओं की पशुशाला के समान हैं, जहां प्रत्येक पशु अपनी २ मर्ज़ी के मुआफ़िक अपनी २ क्रिया प्रगट कर रहा है। हमारे पशुशाला रूपी मन में मोर, गदहा, नेवला, भेड़, चीता, और अनेक प्रकार के जन्तु हैं, और हम लोगों ने इन्हीं पशुओं को ऐसा बना दिया है कि वे हमारे ऊपर हाकिमी कर रहे हैं। हमारी बुद्धि भी अप्रतिष्ठ और डांवाडोल है, और पारा की भांति, जिससे इसकी तुलना पुराने गूढ़ाचारी लोग देते आये हैं, यह बह जानेवाली और अस्थिर है। यदि आप अपने चारों ओर देखेंगे तो यही पावेंगे कि संसार में उन्हीं पुरुषों और

स्त्रियों ने कुछ प्राप्त कर पाया है जिन्हों ने अपने मन को वश में रहने की शिक्षा दी है। उन लोगों ने अपनी आकांक्षा को अपने मन के ऊपर रक्खा है और इस रीति से प्रभुता और शक्ति की शिक्षा प्राप्त की है। साधारण मनुष्य आकांक्षा की रुकावटों में रहने से उकता जाता है और उस चंचल बन्दर के समान इधर उधर करता रहता है जो जी लगा कर मदारी के बताये खेलों को नहीं सीखता। परन्तु अच्छे २ काम किया चाहता है तो खेल सीखना ही पड़ेगा। यदि आप मन से कुछ काम लिया चाहते हैं; यदि आप मन के काम में स्वयम् आने के स्थान पर मन को अपने काम में लाया चाहते हैं।

राज-योग में यह पहली बात सीखने की है कि मन के ऊपर शासन या अधिकार रक्खा जाय। जो लोग प्रभुता प्राप्त करने के लिये किसी अत्यन्त सुलभ मार्ग की आशा करते थे, उन्हें निराशा उत्पन्न हो सकती है, परन्तु रास्ता केवल एक ही है कि आकांक्षा द्वारा मन के ऊपर प्रभुता और अधिकार स्थापित किये जायँ, नहीं तो जब आपको इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ेगी तो यह भाग जायगा। इसलिये हम आप के अभ्यास के लिये ऐसी क्रिया बतलावेंगे जो इस पथ पर आपको सहायता देगी।

राजयोग का पहला अभ्यास "प्रत्याहार" है—अर्थात् जिस के द्वारा मन बाह्य वस्तुओं से खिच कर भीतर की ओर लाया जाता है। मानसिक शासन की ओर यह प्रथम चरण है। इसका उद्देश्य यह है कि बाहर जाने से मन को रोक कर इसे क्रमशः भीतर की ओर ठीक उसी पर या भीतरी प्रकृति पर

लगाया जाय। इसका अभिप्राय यह है कि आकांक्षा द्वारा इस पर अधिकार हो। नीचे लिखा हुआ अभ्यास इस ओर सहायता पहुंचावेगा।

अभ्यास १

(अ) अपने को सुख की स्थिति में स्थापित करो और जहां तक हो सके बाहरी विघ्नों से पृथक रक्खो। मन को शासित करने के लिये प्रबल प्रयत्न न करो, बरुक थोड़े अर्से तक उसे अच्छी तरह दौड़ कर अपने पुरुषार्थ को व्यय कर लेने दो। वह ऐसे अवसर को पाकर बन्धन से छुटे हुए बन्दर की भांति पहले इधर उधर कूदेगा फिर क्रमशः शान्त होकर आज्ञा के लिये आपका मुँह जोहने लगेगा। पहले प्रयत्न में उसे पालतू बनाने में कुछ समय लगेगा, परन्तु बार २ ऐसा करने से फिर थोड़े ही थोड़े अर्से में वह आपका मुहँ जोहने लगेगा। योगी लोग इस मानसिक शान्ति के प्राप्त करने में बहुत अधिक समय व्यय किया करते हैं, और अन्त में इतना समय लगाने का उन्हें पछतावा नहीं करना पड़ता परन्तु अच्छा फल मिल जाता है।

(ब) जब मन अच्छी तरह शान्त हो जाय तब उसे "मैंहूं" के विचार में उसी प्रकार लगाओ जैसा पहले पाठों में लिखा जा चुका है। "अहम्" की कल्पना करो कि यह शरीर से स्वतंत्र एक सत्ता है जो अमर, अभेद्य और वास्तविक है। तब इस शरीर को स्वतंत्र और इस योग्य सोचो कि यह मांस मय देह से बाहर होकर भी रह सकता है। इस पर कुछ

अर्से तक ध्यान करो, तब क्रमश: अपने विचार को इस "अहम्" के अनुभव की ओर लगाओ कि यह मन से स्वतंत्र, उससे ऊँचा और उस पर शासन करनेवाला है। पहले दोनों पाठों की भावनाओं में भ्रमण कर जाओ और उन्हें मन की आंखों से देखो। आपको मालूम होगा कि आपका मन क्रमश: अधिक और अधिक शान्त होता जाता है, और विक्षेप डालनेवाले बाहर के ख्यालात आपसे अधिक और अधिक दूर होते जाते हैं।

(स) तब मन को तीसरे पाठ में लिखी हुई बातों के विचार में लगाओ, जिसमें हमने सब की एकता के विषय में कहा है और जिसमें "अहम्" के सर्व जीवन के साथ के सम्बन्ध, उसकी शक्ति, चैतन्यता और सत्ता के विषय में कहा है। आप को मालूम होगा कि आप ऐसे मानसिक शासन और शान्ति प्राप्त कर रहे हैं, जो अब तक आपको अज्ञात थे। पहले तीन पाठों के अभ्यास आपको इस विषय में तैयार कर रक्खेंगें।

(द) इस अभ्यास का नीचे लिखा हुआ प्रकार या श्रेणी अत्यन्त कठिन है परन्तु इस अभ्यास के करने की भी योग्यता क्रमश: आ जावेगी। इस साधना में बाहरी जगत के सब विचारों और संशनों को रोक देना पड़ता है, शरीर और स्वयम् विचारों को भी भुलवा कर केवल 'मैं हूं' के शब्दों और भावना पर शिष्य को मन को एकाग्र करना होता है, अभिप्राय यह है कि वह केवल सत्ता की भावना पर जो 'मैं हूं' से प्रकट होता है एकाग्रचित्त हो। यह नहीं कि "मैं ऐसा हूं, मैं वैसा हूँ, मैं यह करता हूं, मैं वह करता हूं" किन्तु केवल यही कि "मैं हूं"। इस अभ्यास

से ध्यान एकत्र होकर मनुष्य की भीतरी सत्ता के निज केन्द्र में जा लगेगा और मानसिक सब शक्ति बाहर के पदार्थों में व्यय न होकर एकत्र संचित हो जायगी, जिसका परिणाम यह होगा कि शान्ति, बल और शक्ति की भावना उदित होगी, क्योंकि यह प्रतिज्ञा और इसका विचार अत्यन्त शक्तिमान और बल-शाली है, क्योंकि यह वास्तविक सत्ता की प्रतिज्ञा है और विचार को भीतर की ओर उस सत्य पर प्रेरित करता है। पहले मन को "अहम्" में लगने दीजिये कि वह "अहम्" को आपे के साथ एक समझे, और फिर तब उस "हूं" शब्द पर ले जाइये जो यथार्थता और सत्ता का द्योतक है। तब दोनों शब्दों और अर्थों को जोड़ दीजिये जिसका परिणाम यह होता है कि विचार की अत्यन्त प्रबल एकाग्रता भीतर की ओर होती है और सत्ता की अत्यन्त प्रबल प्रतिज्ञा होती है।

इस साधना या अभ्यास में शरीर को सुख की स्थिति में रखना चाहिये जिससे शरीर की ओर से कोई विक्षेप न उत्पन्न हो। इस अभिप्राय से सुखासन से रहकर प्रत्येक मांसपेशी को शिथिल कर देना चाहिये, और प्रत्येक नाड़ी तन्तु में से तनाव खींच लेना चाहिये कि जिससे पूरे सुख, आराम और शिथिलता की भावना प्राप्त हो जाय। तबतक अभ्यास करते जाइये जबतक वह सिद्ध न हो जाय। इससे चित्त की एकाग्रता तो हो ही गी इसके अतिरिक्त और भी अधिक अनेक लाभ होंगे। इससे थके हुये शरीर, नाड़ी और मन को विश्राम मिलेगा।

अभ्यास २

राजयोग का दूसरा चरण 'धारणा' कहा जाता है। यह मानसिक शक्ति को एकाग्र करने में अत्यन्त अद्भुत भावना है और विश्वास के बाहर के दर्जे तक जगाई जा सकती है, परन्तु इस सब में परिश्रम, समय और धैर्य लगाने की आवश्यकता है। परन्तु शिष्य को इससे बहुत बड़ा लाभ होगा। धारणा किसी एक बात पर मन एकाग्र करने को कहते हैं, जहाँ एकाग्र करके कुछ अर्से तक मन को लगाये रहना होता है। पहले ख्याल में तो यह बात बहुत ही सरल प्रतीत होती है, परन्तु थोड़ा अभ्यास करने पर मालूम होगा कि चित्त को दृढ़ता से एकाग्र करना और वहां ही लगाये रहना कितना कठिन है। उसका झुकाव डाँवाडोल होने की ओर होगा और दूसरी चीज़ या विषय पर दौड़ जाना चाहेगा, और अभीष्ट विन्दु पर लगाये रहने में बहुत बड़े अभ्यास की आवश्यकता होगी। परन्तु अभ्यास से अद्भुत बातें सिद्ध हो जाया करती हैं जैसा कि उन मनुष्यों को देखने से विदित होगा जिन्होंने इस शक्ति को प्राप्त किया है और जो उसका व्यवहार प्रति दिन के जीवन में करते हैं। परन्तु नीचे लिखी बात को स्मरण रखना चाहिये। बहुत से मनुष्यों ने धारणा की शक्ति को तो प्राप्त कर लिया है पर यह शक्ति उनके आयत्त में नहीं है, वे इसी शक्ति के दास हो गये हैं, वे अपने को और अन्य वस्तुओं को भूल गये हैं और अक्सर आवश्यक कामों से भी लापरवाह हो गये हैं। यह धारणा का अच्छा तरीक़ा नहीं है। जो

लोग ऐसी धारणा में पड़ गये हैं वे अपनी आदत के दास बन गये हैं, न कि अपने मन पर अधिकार रखते हैं। ये लोग उतना ही दया के पात्र हैं जितना वे लोग हैं जिनसे धारणा बन ही नहीं पड़ती। मूल मंत्र तो मन पर अधिकार रखने में है। योगी लोग अपनी आकांक्षा के अनुसार धारणा करते हैं और अपनी धारणा के विषय में डूब जाते हैं और उसमें से अपने अभीष्ट की प्रत्येक मात्रा खींच लेते हैं और तब अपने मन को उससे हटा लेते हैं, दोनों दशाओं में अपना अधिकार और शासन रखते हैं। वे अपने ऊपर मजजूबी के हमलों को नहीं आने देते। इसके विपरीत वे बड़े चौकन्ने मनुष्य होते हैं, वे अच्छी समझ बूझ वाले, स्पष्ट सोचने वाले और ठीक तर्क करने वाले होते हैं। वे अपने मन के स्वामी होते हैं न कि अपनी भावनाओं के दास। अज्ञ धारणा वाला अपने को धारणा के विषय में डुबा देता है और वही विषय उसके ऊपर अधिकार करके उसे अपने वशीभूत कर लेता है, परन्तु शिक्षित योगी अपने "अहम्" का बल रखता है और तब अपनी धारणा को किसी बात में लगाता है और सर्वदा उसे अपने शासन में रखता है। आप अन्तर समझ गये ? अच्छा तब पाठ पर ध्यान दीजिये।

धारणा के पहले चरण में नीचे लिखे हुए अभ्यास लाभ-दायक पाये जा सकते हैं:—

(अ) किसी सुपरिचित वस्तु की धारण कीजिये। उदा-हरण के लिये एक पेंसिल। अपने मन को उसमें लगाइये और अन्य चीजों को छोड़ कर केवल पेंसिल ही पर ख्याल रहे।

उसके परिमाण, रंग, आकार और उसकी लकड़ी का विचार कीजिये। उसके लाभ, उसके अभिप्राय, उसकी सामग्री, उसके निर्माण की प्रक्रिया आदि पर विचार कीजिये। संक्षेप में पेंसिल के विषय में इतनी बातों को सोच जाइये जितनी सम्भव हों, उस से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य बातों पर भी मन को दौड़ जाने दीजिये, जैसे उस धातु पर जिससे सीसा बनता है, उस जंगल पर जहां से लकड़ी आकर पेंसिल में लगी, पेंसिल और लिखने की अन्य वस्तुओं के इतिहास पर इत्यादि। संक्षेप में यह बात कि पेंसिल के विषय को समाप्त कर दीजिये। धारणा के विषय पर विचार करने में नीची लिखी हुई रीति लाभदायक पाई जायगी। उस विषय को नीचे लिखी हुई दृष्टियों से देखिये:—

(१) स्वयम् वह वस्तु क्या है।
(२) वह कहां से आई।
(३) उसका अभिप्राय और उससे लाभ।
(४) उसका सम्बन्ध।
(५) उसका अनुमित अंत।

इसकी जांच की तुच्छता से अधीर न हूजिये, क्योंकि सरल से सरल मानसिक शिक्षा बहुत लाभदायक होती है और आप की धारणा और आकांक्षा के जगाने में सहायता देती है। यह किसी साधारण कसरत द्वारा किसी शारीरिक मांस पेशी के विकसित करनेवाली कसरत की प्रक्रिया के समान है, और दोनों दशाओं में मनुष्य कसरत की तुच्छता पर नहीं ध्यान देता किन्तु उससे जो लाभ होता है उसी पर दृष्टि रखता है।

(ब) अपनी धारणा को अपने शरीर के किसी अंग पर लगाइये, उदाहरण के लिये हाथ, और अपने सारे ध्यान को उस पर लगा कर शरीर के अन्य अंगों की वेदनाओं और संशनों को रोक दीजिये। थोड़े अभ्यास से आप ऐसा करने में समर्थ हो सकेंगे। मानसिक शिक्षा के अतिरिक्त इस अभ्यास से धारणा किया हुआ अंग उत्तेजित होगा, कारण इसके आगे पाठों में दिया जायगा। धारणा के अंगों को बदलते जाइये और इस प्रकार मन को भिन्न २ अभ्यास देते जाइये और शरीर के भिन्न २ अंगों को उत्तेजित करते जाइये।

(स) यह अभ्यास आसपास की परिचित वस्तुओं पर अपरिमित बढ़ाया जा सकता है। स्मरण रखिये कि ये वस्तुएं प्रधान नहीं हैं, सारी भावना यह है कि मन पर आकांक्षा के वश में रहने की शिक्षा जम जाय जिससे कि आप जब कभी बड़े विषय पर मानसिक शक्तियों को एकाग्र करना चाहें तो उन्हें अच्छी तरह सुशिक्षित और वशवर्ती पावें। इस शिक्षा के इस भाग का निरादर करने का मन मत कीजिये कि यह शुष्क और मनोरंजकता से हीन है। इससे उन बातों तक पहुँच हो जाती है जो बहुत ही मनोरंजक हैं और यह मनोहर विषयों का द्वार खोल देती है।

(द) किसी अमूर्त विषय की धारणा करने का अभ्यास कीजिये—अर्थात् ऐसे मनोरंजक विषय पर जो मानसिक खोज के लिये क्षेत्र उपस्थित कर सके। उस विषय को सब पटलों और सब शाखाओं में खींच जाइये, पहले एक शाखा को जाँचिये तब दूसरी को। इस प्रकार तब तक जांचते जाइये

जब तक आपको यह न प्रतीत होने लगे कि इस विषय में जहां तक हमारे मन की प्राप्ति थी वहाँ तक इसके विषय में हम जान गये। आपको आश्चर्य होगा कि इस रीति से आप इतना अधिक जान जायँगे, जितने की जानकारी की सम्भावना पर आपका कभी विश्वास न था। अपने मन के किसी गुप्त कोने में आप उस विषय या वस्तु के सम्बन्ध में बड़े २ लाभदायक ज्ञान पा जायँगे और जब आप समाप्त करेंगे तो अपने को उस विषय और तत्सम्बन्धी अन्य बातों का ज्ञाता समझेंगे। इस अभ्यास से आपकी केवल बुद्धिसम्बन्धी शक्तियाँ ही न विकसित होंगी, किन्तु, आपकी स्मरण शक्ति भी प्रबल होगी और मन विस्तृत होगा और अपने में अधिक विश्वास बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त आपका धारणा में अभ्यास बढ़ेगा।

धारणा की महिमा।

धारणा चित्त को एकाग्र करना है। चित्त के इस एकाग्र करने में आकांक्षा को भी एकाग्र करना होता है। मन इस लिये एकाग्र होता है कि आकांक्षा उस वस्तु में एकाग्र हुई है। ऊपर के अभ्यास से मन आकांक्षा की आज्ञा मानने का आदी होता है, केवल यही बात नहीं, किन्तु, आकांक्षा भी मन को आज्ञा देने की आदी होती है। आकांक्षा को प्रबल करने का यही अर्थ है कि मन को आज्ञा पालन की शिक्षा दी जाय और आकांक्षा को आज्ञा देने में अभ्यस्त बनाया जाय। हमारी आकांक्षा बहुत प्रबल है, पर हम उसका अनुभव नहीं करते। आकांक्षा का मूल हमारी निज सत्ता "अहम्" में है,

परन्तु हमारा अर्द्धविकसित मन इस बात का अनुभव ही नहीं करता। हम लोग उन नवयुवा हाथियों के समान हैं जो अपने बल को जानते ही नहीं, किन्तु अपने को तुच्छ महावतों के वश में कर देते हैं, जिन्हें वे अपनी एक गति से झाड़ कर फेंक सकते थे। आकांक्षा सब क्रियाओं के मूल में है—सब क्रियाओं के—मानसिक और शारीरिक।

आकांक्षा के सम्बन्ध में हमें आगे के पाठों में बहुत कुछ कहना होगा और शिष्य को इसमें सावधानी से चित्त लगाना चाहिये। यदि आप अपने इधर उधर आँख फैला कर देखेंगें तो उन मनुष्यों में जो साधारण मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ऊँचे चढ़ गये हैं और उन मनुष्यों में जो साधारण मनुष्यों में पड़े रह गये हैं, इसी आकांक्षा और दृढ़ संकल्प का अन्तर है। जैसा कि बक्स्टन साहब ने बहुत ही अच्छा कहा है कि "ज्यों ज्यों मैं अधिक जीता हूँ त्यों त्यों यही बात जी पर अधिक २ निश्चय होती जाती है कि मनुष्य मनुष्य में जो बहुत बड़ा अन्तर है, निर्बल और सबल का, बड़े छोटे का वह शक्ति और अदम्य दृढ़ संकल्प का अन्तर है।" उनको यह भी कह देना चाहिये था कि शक्ति और अदम्य दृढ़ संकल्प का आदि मूल आकांक्षा है।

सब काल के लेखकों और विचारशीलों ने आकांक्षा की अद्भुत और परम महिमा का अनुभव किया है। कवि टेनिसन कहते हैं कि "हे आकांक्षे, जब सब प्रगट वस्तुएं धक्का खा जायँगी तब भी तू अटल बनी रहेगी।" यह आकांक्षा "अहम्" के केन्द्र में अपना आसन जमाये रहती है, परन्तु

वह मन को सब भागों और सब दिशाओं में भेजती है और उसी प्रकार प्राण को भी सर्वत्र प्रेरित करती है। बक्स्टन साहब कहत हैं कि "आकांक्षा उन सब कार्यों को कर सकती है जो इस दुनिया में किये जा सकते हैं; और इस आकांक्षा को छोड़ कर अन्य और कोई योग्यता, कोई दशा, और कोई सुअवसर इस दो पैर के जन्तु को मनुष्य नहीं बना सकता।" सच है आकांक्षा मनुष्य को देवता बना देती है।

इस आकांक्षा के उचित व्यवहार में बड़ी भारी बाधा अधिकांश मनुष्यों के लिये यह है कि वे अपने चित्त को एकाग्र नहीं कर सकते। योगी लोग इस बाधा को समझते हैं; और राजयोग के अनेक अभ्यास जो गुरुओं द्वारा शिष्यों को दिये जाते हैं वे इसी बाधा को दमन करने के लिये हैं। ध्यान आकांक्षा का बाह्य प्रमाण है। ज्यों २ ध्यान का अभ्यास बढ़ता है त्यों २ आकांक्षा की शक्ति विकसित होती जाती है।

सुसाधित आकांक्षा वही है जिससे निकला हुआ ध्यान स्थायी होता है, यही ध्यान सुशिक्षित आकांक्षा का चिन्ह है। शिष्य को शीघ्रता से यह परिणाम न निकालना चाहिये कि यह ध्यान तो मनुष्य की साधारण शक्ति है। इसके विपरीत यह शक्ति बहुत ही विरल पाई जाती है, और उसी मनुष्य में मिलती है जिसका मानसिक विकाश प्रबल और ऊँचा हुआ है मनोरंजक बात में तो सभी अपना जी लगा सकते हैं; परन्तु मनोरंजनता से रहित बात में ध्यान जमाना और वहाँ स्थिर रखना अभ्यस्त ही आकांक्षा का काम है। इसमें सन्देह नहीं कि अभ्यासी योगी मनोरंजनता से अत्यन्त हीन वस्तु में भी

मनोरंजनता ला देता है जिस पर वह अपना चित्त एकाग्र किया चाहता है, परन्तु यह भी अभ्यस्त आकांक्षा ही द्वारा होता है और साधारण मनुष्य का कार्य नहीं है। इच्छा पूर्वक ध्यान बहुत विरल बात है और केवल प्रबल चरित्र के मनुष्यों ही में पाया जाता है। परन्तु यह जगाया और बढ़ाया जा सकता है। जिस मनुष्य में आज इसकी बहुत कम मात्रा है, वही मनुष्य एक समय में बड़ा भारी ध्यानी हो सकता है। यह सब अभ्यास, परिश्रम और आकांक्षा का मामला है।

स्थायी ध्यान की शक्ति के विकाश की महिमा जितनी ही कही जाय, थोड़ी है। जो मनुष्य इसकी विकसित शक्ति धारण करता है वह उस मनुष्य से भी अधिक कार्य सम्पादन कर सकता है जो बहुत चतुर तो है पर जिसमें चित्त की एकाग्रता की शक्ति नहीं है। और आकांक्षा की आज्ञा में चित्त की एकाग्रता के जगाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि अनाकर्षक पदार्थों और भावनाओं का अभ्यास किया जाय और उन्हें तब तक मन के सम्मुख रक्खा जाय जब तक उनमें मनोरंजकता न आ जाय। यह बात पहले कठिन है, परन्तु कार्य शीघ्र ही प्रसादकर प्रतीत होने लगता है क्योंकि अभ्यासी को अपनी आकांक्षा शक्ति और चित्तैकाग्रता दोनों बढ़ती हुई विदित होती हैं और वह अपने को उस बल और शक्ति को महा लाभ करते हुए पाता है जिनकी पहले उसमें बहुत ही कमी थी। वह अनुभव करता है कि वह दिन पर दिन अधिक शक्तिमान हुआ जाता है। चार्ल्स डिकेन्स साहब कहते हैं कि उनकी सफलता का रहस्य यह था कि

उन्होंने इस शक्ति को जगा लिया था कि अपनी सारी चित्तै-काग्रता को उस कार्य में लगा देते थे कि जिसको वे उस समय करते थे, और फिर जब दूसरा काम सन्मुख आता था तब उसमें भी उतना ही मनोयोग देते थे। वह मानो अपने ध्यान का प्रबल ज्योतिर्मय लैम्प लिये थे जिसको जिसी पदार्थ की ओर फेरते थे उसी को प्रकाशमय कर देते थे। लैम्प रखने वाला मनुष्य "अहम्" है और आकांक्षा परावर्तक है तथा चित्त की एकाग्रता ही प्रकाश है।

आकांक्षा और चित्त की एकाग्रता की यह व्याख्या शिष्य को शुष्क प्रतीत होगी, परन्तु इसी कारण से उसको और भी मनोयोग देकर इसे अध्ययन करना चाहिये। यही रहस्य है जो राजयोग विद्वान का मूल आधार है, और योगी गुरु लोग आकांक्षा और चित्त की इतनी एकाग्रता सिद्ध किये होते हैं कि जो साधारण मनुष्य के ख्याल में भी नहीं आ सकती। इसी के बल से वे अपने मन को जहां चाहें वहां बाहर और भीतर अत्यन्त बल के साथ लगा सकते हैं। वे छोटी वस्तु पर भी बड़ी प्रखरता से अपने चित्त को लगा सकते हैं, जैसे सूर्य की किरणें सुर्यमुखी शीशे में एकाग्र करके उनसे आप कपड़ा जला सकते हैं, अथवा वे अपने मन को प्रबल शक्ति से दौड़ाते हैं कि वह जिसी वस्तु पर पड़ता है उसी पर प्रकाश ठीक उसी भांति डाल देता है जैसे बिजली की प्रबल ज्योति प्रकाश डालती है। जैसे हो सके वैसे चित्त की एकाग्रता और आकांक्षा की शक्ति को जगाइये। इस सूखी क्रिया का अभ्यास कर चलिये, जो कार्य सामने आवे उसे मनोयोग

देकर कीजिये । उसमें मनोरंजकता भर दीजिये तब कठिनता जाती रहेगी और जब कठिनता जाती रहेगी तब आप उसमें से प्रबल होकर निकलेंगे मानों शक्ति की एक नइ भावना से भर गये हैं ।

मंत्र ।

"मेरे" पास आकांक्षा है, उस पर हमारा अवियोज्य स्वत्व है । मेरा दृढ़ संकल्प है कि मैं उसे पुरुषार्थ और अभ्यास द्वारा जगाऊंगा और विकसित करूंगा । मेरा मन मेरी आकांक्षा का वशवर्ती है । मैं अपनी आकांक्षा को अपने मन पर शासक रखता हूं । मैं अपने शरीर और मन का स्वामी हूं । मैं अपनी प्रभुता दृढ़ रखता हूं । मेरी आकांक्षा प्रबल शक्ति वाली है । वह बल, शक्ति और प्रभुता से भरी हुई है । मैं अपने बल का अनुभव करता हूं । मैं प्रबल हूं । मैं बलवान हूं । मैं शक्तिमान हूं । मैं चेतना, शक्ति, बल और प्रभुता का केन्द्र हूं और मैं अपना स्वत्व चाहता हूँ ।

पाँचवाँ पाठ

मनोयोग अर्थात् अवधान का विकसना

अपने अन्तिम पाठ में हमने आप लोगों के ध्यान को इस बात की ओर आकर्षित किया है कि योगी लोग चित्त की एकाग्रता सिद्ध करने के लिये बहुत ही अधिक समय और अभ्यास लगाया करते हैं, और हमने अवधान और चित्त की एकाग्रता के सम्बन्ध के विषय में भी कुछ कह दिया है। इस अध्याय में हम अवधान के विषय में और भी अधिक कहेंगे, क्योंकि राजयोग के अभ्यास के सम्बन्ध में यह बहुत ही प्रधान विषय है, और योगी लोग अपने शिष्यों से अनुरोध करते हैं कि विधिवत इसका अभ्यास करके अवधान की शक्ति जागृत और विकसित की जाय। अवधान आकांक्षा शक्ति का मूल आधार है और एक का विकसित करना दूसरे के अभ्यास को सरल बनाता है।

इस बात की व्याख्या करना कि क्यों हम लोग अवधान के विकासित करने में इतनी प्रधानता रखते हैं, इस पुस्तक के आगामी पाठों को अभी बतला देना है, जिसे हम इस समय उचित नहीं समझते हैं। इस लिये हम अपने शिष्यों से यही निवेदन करते हैं कि इस विषय में अभी हमारे वचनों ही का विश्वास कर लें कि जो कुछ हमें अवधान के विकसने की प्रधानता के विषय में कहना है वह इस विषय के उस सम्बन्ध से प्रगट होता है जो मन को किसी निश्चित ओर लगाने से होता है, जो पूर्ण रीति से आगे चलकर बतलाया जायगा।

इस बात को बतलाने के लिये कि हम योगियों की किसी विशेष कल्पना का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं जो कि अर्वाचीन पश्चिमी विज्ञान से सम्मत नहीं है, हम इस लेख में कतिपय पश्चिमी लेखकों और विचारशीलों के कथनों को उद्धृत करेंगे जो मन की इस प्रधान शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं, जिससे कि आप देख सकें कि पश्चिम और पूर्व दोनों इस मूल बात में एकमत हैं, चाहे उन की व्याख्याओं अथवा अवधान के जगाने से जो शक्ति प्राप्त होती है उसके व्यवहारों में कितना ही भेद क्यों न हो।

अवधान में "अहम्" इच्छा करता है कि मन किसी विशेष पदार्थ या वस्तु में एकाग्र हो और मन उसके अनुसार उस पदार्थ या वस्तु की ओर बढ़ता है, अपनी सारी शक्ति को उसपर लगा देता है, प्रत्येक बारीकियों को अवगत करता है, उसके अंग प्रत्यंग का हाल जानता है, चाहे चेतन अथवा अचेत दशा में, उसके विषय में जानकरी के प्रत्येक सम्भव खंड को भीतर और बाहर दोनो ओर से ग्रहण करता है। इस महती शक्ति के प्राप्त करने अथवा जगाने की ओर जितना ही जोर दिया जाय थोड़ा है, क्योंकि राजयोग के उचित अध्ययन के लिये यह बहुत ही आवश्यक है।

इस विषय की प्रधानता दिखलाने के लिये कल्पना कीजिये कि हम अवधान ही के विषय में अवधान (मनोयोग) दे रहे हैं तो देखने में आवेगा कि इसमें हमारी जानकारी के परे भी कितना महत्व है। जितना ही इस विषय में समय और परिश्रम लगेगा उतना ही अच्छा होगा।

अवधान की परिभाषा की गई है कि अवधान चेतना की एकाग्रता को कहते हैं, या, चेतना में धारण करने को कहते हैं पहली परिभाषा के उदाहरण में हम इसकी उपमा सूर्यमुखी काँच से दे सकते हैं जिसमें सूर्य्य की किरणें एकाग्र होकर किसी वस्तु पर पड़ती हैं, जिसका यह परिणाम होता है कि किरणों का ताप किसी दिए हुए छोटे स्थान पर पड़ता है, उस ताप की प्रखरता कई गुना अधिक बढ़ जाती है जिससे कि गर्मी इतनी अधिक हो जाती है कि लकड़ी का टुकड़ा जलने लगता है अथवा पानी सूखने लगता है। यदि किरणें एकाग्र न की जातीं तो वे ही किरणें और ताप एक बड़े तल में फैले रहते और उनका प्रभाव और बल बहुत ही घट जाते। यही दशा मन की भी है। यदि इसे किसी विषय के सारे क्षेत्र में फैला दिया जाय तो इसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ेगा और परिणाम बहुत निर्बल होगा। परन्तु यदि यह अवधान के सूर्यमुखी काँच में होकर लगाया जायगा, और पहले एक भाग और फिर दूसरे भाग पर एकाग्र किया जायगा तो वस्तु बारीकियों सहित अवगत हो जावेगी और ऐसा परिणाम होगा कि जो लोग इस भेद को नहीं जानते वे इसे करामात समझने लगेंगे।

टामसन साहब ने कहा है कि "चेतना में स्थायी रूप से अंकित वे ही अनुभव होते हैं जिनके ऊपर अधिक से अधिक अवधान लगाया गया रहता है।"

एक और लेखक ने इस विषय में लिखा है कि "समझ के लिये अवधान की इतनी बड़ी आवश्यकता है कि इसके

बिना जो भावनाएँ और प्रत्यक्ष बातें मन में होकर गुज़र करती हैं उनका चिन्ह मात्र भी शेष रह जाता नहीं प्रतीत होता है।

हेमिल्टन साहब ने कहा है कि "अवधान या चित्त की एकाग्रता चेतना की प्रत्येक क्रिया के लिये आवश्यक है, जैसे दृष्टि की प्रत्येक क्रिया के लिये आंख की पुतलियों को संकुचित होना आवश्यक है। अवधान का चेतना के साथ वही सम्बन्ध है जो आंख की पुतलियों के संकुचित होने का सम्बन्ध द्रष्टि के साथ है, अथवा अवधान का सम्बन्ध मन की आंख के साथ वही है जो खुर्दबीन या दुर्बीन शीशा का शारीरिक आंख के साथ है। यह मानसिक शक्ति का उच्च अंग है।

अवधान दो प्रकार के होते हैं। पहला वह है जो मन ही के भीतर किसी मानसिक चीज़ या भावना में लगाया जाता है। दूसरा वह अवधान है जो उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जो हमसे बाहर हैं। दोनों प्रकार के अवधानों में एक ही नियम समान रूप से लगते हैं।

इसी प्रकार अवधान के दो विभाग या भेद और भी होते ह अर्थात् एक तो वह अवधान है जो किसी बात के चेतना में आजाने से, आकांक्षा के बिना किसी सचेत प्रयत्न के, आप से आप आकर्षित हो जाता है। इसे अनिच्छित अवधान कहते हैं, क्योंकि अवधान और मनोराग उस बात की नूतनता और आकर्षकता के कारण आकृष्ट हुए हैं। जो अवधान आकांक्षा के प्रयत्न से प्रयोग किया जाता है उसे ऐच्छिक अवधान कहते हैं। अनिच्छित अवधान साधारण है और इसके

लिये किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। सच तो यह है कि इसका बहुत बड़ा भाग युवा मनुष्यों की अपेक्षा उनके बच्चों और नीच जन्तुओं को अधिक मिला है। अधिकांश पुरुष और स्त्रियां इस दर्जे से अधिक आगे नहीं बढ़तीं। इस के विपरीत ऐच्छिक अवधान में प्रयत्न, अधिकांक्षा और दृढ़ता इत्यादि मानसिक शिक्षा की आवश्यकता होती है, जो अधिकांश मनुष्यों के परे की बात है, क्योंकि वे अपने अवधान को इस प्रकार प्रेरित करने की दिक्कत को उठाना नहीं चाहते। ऐच्छिक अवधान शिष्यों और विचारशील मनुष्यों का लक्षण है। ये लोग अपने मन को ऐसी चीजों में एकाग्र करते हैं जो तत्काल मनोराग और सुख नहीं देतीं, ऐसा वे सीखने और अपने को गुणी बनाने के अभिप्राय से करते हैं। लापरवाह मनुष्य एकाध क्षण से अधिक अपना अवधान न लगावेगा, क्योंकि उसका अनिच्छित अवधान किसी अन्य विषय पर आकर्षित हो जावेगा, चाहे वह अन्य विषय तुच्छ ही क्यों न हो, और ऐच्छिक अवधान लुप्त हो कर भूल जायगा। ऐच्छिक अवधान अभ्यास और धैर्य से सिद्ध होता है, परन्तु यह परिश्रम करके सिद्ध करने के योग्य है, क्योंकि मानसिक संसार में इसके बिना कोई भी सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।

अमनोरंजक पदार्थों में अवधान झटपट नहीं लग जाता, और जब तक किसी वस्तु में मनोरंजकता न उत्पन्न की जावे तब तक ऐच्छिक अवधान की एक बड़ी मात्रा की आवश्यकता होती है कि मन ऐसी वस्तु में लगाया जाय। इसके अलावा,

यदि किसी तरह साधारण अवधान लगा भी दिया जायगा तौ भी वह तब तक चंचल रहेगा जब तक वस्तु में मनोरंजक परिवर्तन न होगा, जिससे मन को नया आकर्षण प्राप्त हो, अथवा जब तक वस्तु में कोई नया गुण, विशेषता आदि न प्रगट हो। यह बात इस लिये होती है कि मन को देर तक ऐच्छिक अवधान को स्थिर रखने की शिक्षा नहीं दी गई है, और शारीरिक मास्तिष्क भी इस कार्य में अभ्यस्त नहीं है, यद्यपि वह धैर्यपूर्वक अभ्यास करने से अभ्यस्त हो सकता है।

जांच करनेवालों ने ऐसा पाया है कि अवधान को विश्राम भी दिया जा सकता है, या तो उस ऐच्छिक अवधान को उस विषय से हटा कर आनिच्छित अवधान की भांति इधर उधर की चीजों में लगा देने से अथवा ऐच्छिक ही अवधान को किसी नई वस्तु में लगाने से। कभी एक तरीका अधिक लाभ देगा और कभी दूसरा तरीका लाभदायक होगा।

हमने आपके ध्यान को इस बात की ओर आकर्षित किया है कि मनोरंजकता से अवधान विकसता है और देर तक उस वस्तु में स्थिर रहता है, और इसके विपरीत अमनोरंजक वस्तु या विषय अधिक मानसिक प्रयत्न और चेष्टा चाहता है। इसका बड़ा अच्छा उदाहरण किसी किताब के पढ़ने में मिल सकता है। प्रायः प्रत्येक मनुष्य किसी चमकीली घटना पूर्ण कहानी के पढ़ने में अपना सारा अवधान लगा देगा, परन्तु किसी वैज्ञानिक ग्रन्थ के अध्ययन करने में बहुत ही कम मनुष्य पूरा ऐच्छिक अवधान लगा सकेंगे। परन्तु ठीक इसी स्थान पर हम आपके ध्यान को मामले के दूसरे

पटल पर लेजाते हैं, जो इस बात का एक और उदाहरण है कि सचाई विरोधाभास के मिलने से बनती है।

जिस तरह मनोरंजकता से अवधान विकसित होता है, वैसे ही यह बात भी सत्य है कि अवधान से मनोरंजकता विकसती है। यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु में ऐच्छिक अवधान लगावे, तो उसको शीघ्र ही विदित होगा कि थोड़े ही धैर्य से उस वस्तु में उसे मनोरंजक बातें दिखाई देने लगेंगी। जो बातें पहले अदृष्ट थीं वे अब शीघ्रता से प्रगट होने लगेंगी। उस विषय या वस्तु के अनेक पटल और दृश्य दीख पड़ने लगेंगे जो प्रत्येक मनोरंजक होते जावेंगे। यह सच्ची बात बहुतों पर विदित नहीं है और ऐसी है कि यदि आप इसे स्मरण रखेंगे और अभ्यास में इसका व्यवहार करेंगे तो बहुत ही अच्छा होगा। किसी अमनोरंजक वस्तु में मनोरंजक अंगों को खोज निकालिये, और वे आप प्रगट हो जावेंगे, और थोड़े ही काल में वह अमनोरंजक वस्तु ऐसी हो जावेगी कि जिसमें अनेक रूपों की मनोरंजकता पाई जावेगी।

ऐच्छिक अवधान विकसित आकांक्षा के लक्षणों में से एक है अर्थात् उस मन का चिन्ह है जिसे आकांक्षा ने अच्छी शिक्षा दी है क्योंकि आकांक्षा सर्वदा प्रबल होती है और मन ही की शिक्षा हो सकती है आकांक्षा की नहीं। और दूसरी ओर आकांक्षा द्वारा मन के शिक्षित करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि ऐच्छिक अवधान का अभ्यास किया जाय। इस प्रकार आप देखते हैं कि कैसे यह नियम दोनों ओर काम करता है। कतिपय पश्चिमी आचार्यों ने ऐसी भी युक्ति प्रचलित की

है कि ऐच्छिक अवधान ही आकांक्षा की शक्ति है, और यही शक्ति काफी है, क्योंकि यदि अवधान दृढ़ता से लगेगा और किसी वस्तु में स्थिर रहेगा तो शेष कार्य मन आप से आप करलेगा। हम ऐसे आचार्यों से सहमत नहीं हैं परन्तु उनकी युक्ति का उल्लेख इस लिये कर देते हैं कि लोग ऐच्छिक अवधान के महत्व को समझ जायँ।

प्रबल विकसित अवधानवाला मनुष्य उस चतुर मनुष्य की अपेक्षा अधिक कार्य सिद्ध कर लेता है जिसके अवधान में त्रुटि है। ऐच्छिक अवधान और दृढ़ता ऐसी चीजें हैं जो प्रतिभा की स्थानापन्न हो सकती हैं और अन्त में प्रायः उस से भी अधिक काम देती हैं।

ऐच्छिक अवधान किसी वस्तु में मन का प्रबल रीति से आग्रह पूर्वक लगाना है, साथ ही साथ अन्य वस्तुओं को, जो चेतना में आना चाहती हैं, रोक रखना है। हेमिल्टन ने इसकी यह परिभाषा लिखी है कि "वह चेतना जो इच्छा पूर्वक नियमानुकूल किसी निश्चित वस्तु में लगाई जाती है ऐच्छिक अवधान कही जाती है।" वही ग्रन्थकार लिखता है कि "जितनी ही अधिक वस्तुओं पर एक साथ अवधान का प्रयोग किया जायगा उतनी ही अवधान की उस तीव्रता में कमी आवेगी जिसके द्वारा वह प्रत्येक वस्तु विचारी जाती है, इस लिये उन सब वस्तुओ का ज्ञान बहुत कम स्पष्ट और स्वच्छ होगा। जब किसी वस्तु में हमारा मनोराग उत्तेजित होता है, और जब हम उसके विषय में यथासाध्य पूरा ज्ञान प्राप्त किया

चाहते हैं तब हमें उचित है कि अन्य बातों को छोड़ कर केवल उसी वस्तु में अपने अवधान को परिमित रक्खें ।"

मनुष्य के मन को एक समय में केवल एक ही वस्तु में मनोयोग देने की शक्ति है, यद्यपि वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर बड़ी ही शीघ्रता और तीव्रता से जाने की सामर्थ्य रखता है जिससे कुछ मनुष्यों का यह विश्वास है कि मन एक ही समय में अनेक बातों को ग्रहण कर सकता है । परन्तु सर्वोच्च प्रमाण पुरुष, चाहे पूर्वी हों या पश्चिमी, इसी युक्ति को ठीक समझते हैं कि मनुष्य एक समय में एक ही वस्तु पर अवधान दे सकता है ।

किसी वस्तु पर एकाग्र ऐच्छिक अवधान देने से हम लोग उस वस्तु को केवल अत्यन्त अधिक स्पष्टता ही से नहीं देख और सोच सकते, किन्तु मन की ऐसी प्रवृत्ति है कि ऐसी दशाओं में वह उन सब भिन्न २ भावनाओं को चेतना में उदित कर देता है, जो हमारी स्मरण-शक्ति में उस विषय या वस्तु के सम्बन्ध में होती है, और उस विषय या वस्तु के लगाव में अनेक बातों और जानकारियों को खड़ा कर देता है । और साथ ही साथ जो अवधान किसी विषय पर लगाया जाता है वह उस वस्तु के सम्बन्ध में उन सब बातों को दृढ़ और स्पष्ट बना देता है, जिन्हें हम उस विषय के सम्बन्ध में उस समय सीखते हैं । ऐसा जान पड़ता है कि अवधान ऐसी नहर खोद देता है जिसमें से हो कर ज्ञान प्रवाहित होता है ।

अवधान प्रत्यक्षीकरण की शक्तियों को बहुत बढ़ा देता

है और उनके अभ्यास में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाता है। किसी देखी या सुनी वस्तु पर अवधान देने से मनुष्य उस देखी या सुनी वस्तु की बारीकियों को सम्यक् निरीक्षण कर सकता है, और जहां अनवहित मन तीन बातों का ज्ञान प्राप्त करता है वहां अवहित अर्थात सावधान मन ३×३ या कदाचित् ३×३×३ अर्थात् २७ ज्ञान प्राप्त करता है। और जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं अवधान सहचार (Association) की शक्तियों को भी उभाड़ देता है और प्रायः अनन्त सहचारी बातों का, जो हमारी स्मृति में संचित रहती है, दरवाजा खोल देता है, और बातों की नयी २ ऐसी संहतियां रचकर, जिन्हें हम कभी एकत्रित न कर सकेंगे, चेतना के क्षेत्र में ला देता है और जिस वस्तु पर हम अवधान दे रहे हैं उसकी सम्बन्धी अनेक बातों के ज्ञान को उदित कर देता है। इसका प्रमाण प्रत्येक मनुष्य के अनुभव में है। ऐसा मनुष्य कहां है जो इस बात को स्मरण न करता हो कि जब कभी वह अवधान अर्थात मनोयोग देकर लिखने, चित्र बनाने, पढ़ने, इत्यादि के लिये बैठता है तब उसके मन के प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में नाना प्रकार की बातों का प्रवाह सा हो जाता है। अवधान द्वारा जितना ज्ञान आप किसी विस्तु के विषय में रखते हैं वह सब उदित हो जाता है जिससे आप उसे नयी संहतियों, सहचारों, श्रेणियों आदि में योजना कर सकते हैं और मौलिक ज्ञान बना सकते हैं। गिबन साहब कहते हैं कि "किसी नये विषय पर थोड़ा विचार करने के पश्चात् मैं उस विषय पर सोचना स्थगित कर देता हूं और अपने मन को उसी विषय पर

अवाहित अर्थात् एकाग्र कर देता हूं जिससे उस विषय के सम्बन्ध में मेरा सारा सहचारी ज्ञान उदित हो जाता है। तब हम अपने कार्य में नयी शक्ति और पटुता के साथ फिर लग जाते हैं।"

किसी विचाराधीन विषय पर मनुष्य का जितना ही अधिक अवधान लगेगा उतना ही दृढ़ अंकन उस विषय का उस मनुष्य के मन पर होगा, और फिर उस ओर ख्याल और कार्य दौड़ाने में उसको बड़ी ही सरलता होगी।

अच्छी स्मृति होने के लिये अवधान परम आवश्यक वस्तु है, और सच तो यह है कि जब तक कुछ न कुछ अवधान न दिया जाय तब तक स्मृति सम्भव ही नहीं है। स्मृति की प्रबलता अवधान और मनोराग की प्रबलता पर अवलम्बित है। और जब इस बात पर विचार किया जाता है कि आज का कार्य तथा सम्यक् रीति से ठीक होता है जब कल्ह परसों आदि की सीखी बातों की पूरी स्मृति रहती है। तब आप को विदित होता है कि आज हम जितना ही अधिक अवधान लगावेंगे कल्ह उतना ही हमारा काम अधिक अच्छा होगा।

कतिपय प्रमाण योग्य पुरुषों ने कहा है कि प्रतिभा अवधान की महती शक्तियों का परिणाम है, अथवा कम से कम ये दोनों बातें साथ २ पाई जाती हैं।......सर आइजक न्यूटन ने अपने ज्ञान प्राप्त करने की रीति का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि हम विचाराधीन विषय पर लगातार अवधान लगाते हैं, तब प्रतीक्षा करने लगते हैं और क्रमशः उस विषय के प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होने लगता है और वह ज्ञान स्पष्ट प्रकाश में धीरे २ आजाता है। निस्सन्देह यही मानसिक

सूर्य्योदय है। डाक्टर एबर क्रोम्बा आदि बड़े बड़े २ पश्चिमी आचार्यों की यही सम्मति है।

मनुष्य जितना ही अधिक अपने अवधान को जगावेगा उतना ही अधिक वह बुद्धि सम्बन्धी कार्य कर सकेगा। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं सब प्रकार के जीवन के बड़े २ आदमियों ने इस शक्ति को आश्चर्यजनक हद तक जगा लिया है, और बहुत तो यद्यपि सहज रीति से फल प्राप्त करते हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु, वास्तव में वे अवधान की एकाग्र शक्ति द्वारा प्राप्त करते हैं, जिससे वे किसी विषय या प्रस्ताव के ठीक केन्द्र तक देख लेते हैं और तत्सम्वन्धी अगली पिछली चारों ओर की बातों को इतना शीघ्र जान लेते हैं कि उस मनुष्य को आश्चर्य होने लगता है जिसने उस प्रबल शक्ति को नहीं जगाया है। जिन मनुष्यों ने किसी विशेष प्रकार के कामों या अन्वेषणाओं में बहुत अधिक अवधान दिया है वे उस प्रकार के कार्यों को इसी रीति से करते हुए दिखाई देते हैं मानो उनके और दूसरी भी दृष्टि है। अवधान प्रत्येक मानसिक शक्ति, तर्क शक्ति,—इन्द्रियां—निश्चय करनेवाली शक्ति, विश्लेषण शक्ति इत्यादि सभी को तेज़ कर देता है और एकाग्र अवधान से सब की धार पर सान चढ़ जाती है।

अवधान की कमी से बढ़कर निर्बल मन का और दूसरा कोई लक्षण नहीं है। यह निर्बलता बीमारी के कारण या शारीरिक निर्बलता के मस्तिष्क तक पहुँच जाने से होती है और इस पिछली दशा में थोड़े ही काल तक ठहरती है। सम्भव है कि मानसिक विकास की कमी के कारण यह

निर्बलता हो। जड़ मनुष्यों में अवधान की मात्रा बहुत ही कम होती है।

वृद्धावस्था में अवधान ही की शक्ति पहले क्षीण होने लगती है। कुछ प्रमाणिक पुरुषों ने कहा है कि बुढ़ाई के आगमन के साथ स्मृति पहले छीजती है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि इस बात को प्रायः सभी लोग जानते हैं कि वृद्ध लोग बहुत दिन पीछे की बातों की बहुत स्पष्ट स्मृति रखते हैं। उनकी बुढ़ाई की बातों की स्मृति निर्बल होती है इसका यह कारण है कि उनकी छीजती हुई अवधान शक्ति के कारण सब बातों का अंकन उनके मन पर दृढ़ और स्पष्ट नहीं होता, और जैसा ही अंकन होता है, वैसा ही स्मृति भी होती है। उनकी युवा अवस्था के अंकनों के दृढ़ और स्पष्ट होने से वे सरलता से स्मरण हो जाते हैं, और बुढ़ाई के अंकन निर्बल होने से बड़ी कठिनता से स्मरण में आते हैं। यदि उनकी स्मृति में त्रुटि होती तो अगले और पिछले कोई भी अंकन स्मरण न आते।

अब हम अवधान के महत्व का बहुत वर्णन कर गये। यदि आप इस महत्व को नहीं समझते तो इसका यही कारण है कि आपने इस पर अवधान नहीं दिया और फिर इसी विषय को बार २ कहने से भी आपका अवधान न लगेगा।

अवधान का जो कुछ महत्व अब तक कहा गया है वह मनोविज्ञान की दृष्टि से कहा गया है, योगशास्त्र की दृष्टि से तो यह और भी अधिक है। अब इसके महत्व को स्वीकार करके क्या यह आपके लिये आवश्यक नहीं है कि आप तुरत

इस शक्ति के जगाने में लग जायँ ? हमारी राय में यह परम आवश्यक बात है। किसी शारीरिक अवयव या मानसिक शक्ति के जगाने के लिये उसका अभ्यास ही करना सबसे बड़ा साधन है। अभ्यास से अवयव या शक्ति का ह्रास होता है, तब शरीर यंत्र उस स्थान पर और अधिक सामग्री—देहाणु, तन्तु बल आदि चीजों को ह्रास की पूर्ति करने के लिये भेजता है, और यह नियम है कि यह सामग्री आवश्यकता से अधिक पहुँचाई जाती है। इसी अधिक सामग्री के लगातार उत्पन्न होने और बढ़ने से मांसपेशियां और मस्तिष्क केन्द्र बढ़ते हैं। उन्नत और सुदृढ़ मस्तिष्क केन्द्रों से मन को ऐसा औज़ार मिल जाता है कि वह और भी अधिक अच्छा कार्य कर सके।

अवधान के विकसित करने में पहली बात यह सीखनी है कि एक समय में एक ही बात सोची या की जाय। जो बात सम्मुख आवे उस पर पूरी रीति से अवधान देने, और फिर तब दूसरी वस्तु पर, इसी प्रकार वर्तने की आदत डालना सफलता की प्राप्ति के लिये बहुत ही अच्छा साधन है, और इसका अभ्यास अवधानशक्ति को जगाने और उन्नत करने के लिये सर्वोत्तम उपाय है। इसके विपरीत सफलता की दृष्टि से इस बात से बढ़कर और कोई हानिकारक चीज़ अवधान शक्ति को नष्ट करनेवाली नहीं हो सकती कि यह आदत पड़ जाय कि एक काम को करने की चेष्टा कर रहे हैं साथ ही दूसरी बात सोच रहे हैं। मन का सोचने वाला भाग और क्रिया करनेवाला भाग दोनों को साथ २ कार्य करना चाहिये न कि खींचातानी करनी चाहिये।

इसी विषय में लार्ड चेस्टरफ़ील्ड कहते हैं कि "यदि आप एक समय में एक ही काम पर मनोयोग देंगे तो दिन भर में प्रत्येक काम के कर डालने का अवसर मिल जायगा, परन्तु यदि आप दो काम एक साथ करने का यत्न करेंगे तो वर्ष भर में भी आप को पूरा अवसर न मिल सकेगा।"

सर्वोत्तम फल प्राप्त करने के लिये मनुष्य को एक समय में एक ही काम करने और यथासाध्य दूसरे विचारों और भावनाओं को बाहर ही रोक रखने का अभ्यास रखना चाहिये। मनुष्य को ऐसी दशा में अपने आप तथा अपने व्यक्तित्व को भी भूल जाना चाहिये, क्योंकि भली भांति किसी किसी बात के सोचने में दूषित आत्माचिन्तन से बढ़ कर अन्य कोई हानिकारक बात नहीं हो सकती। सर्वोत्तम कार्य तभी होता है जब मनुष्य कार्य में अपने को भूल जाता है और अपने व्यक्तित्व को उसी कार्य में निमग्न कर देता है। वे ही पुरुष या स्त्री पूरी रीति से कार्य में तत्पर हो सकते हैं जो अपने व्यक्तित्व को उपस्थित कार्य में डुबा देते हैं। चाहे अभिनयकर्ता हो, अथवा उपदेशक, वक्ता या लेखक हो। जब तक अपने कार्य में अपने को भुला न देगा, पूरा फल प्राप्त न कर सकेगा। अपने सम्मुख के कार्य में अपने अवधान को एकाग्र बनाये रखिये और आपा अपनी चिन्ता आप कर लेगा।

ऊपर लिखी बात के सम्बन्ध में व्हेटली साहब की कथा कही जा सकती है कि उपस्थित कार्य में अपने आप को भूल जाने का क्या प्रतिफल होता है। एक बार किसीने त्रपा अर्थात् लज्जालुता दूर करने का उपाय व्हेटली साहब से

पूछा। साहब ने उत्तर दिया कि मनुष्य लज्जालु इसी लिये हो जाता है कि वह अपने आपे का ख्याल करता रहता है और यह सोचता रहता है कि लोग हमारे विषय में क्या ख्याल कर रहे होंगे। उन्होंने यह उपाय बतलाया कि नवयुवक को केवल दूसरों ही का ख्याल करना चाहिये कि मैं कौन सा सुख उन्हें दे सकता हूं और इस प्रकार वह अपने को भूल जायगा। इस उपाय ने लज्जालुता को दूर कर दिया। उसी आचार्य ने कहा है कि "आशुवक्ता और लेख-वाचक को अपने विषय में यथासाध्य सब ख्यालों को छोड़ देने का अभ्यास रखना चाहिये और केवल अपनी वक्तृता या लेख के विषय पर ध्यान रखना चाहिये। इससे उनको यह बाधा न होगी कि श्रोता लोग इसे सुन कर हमारे विषय में क्या ख्याल करते होंगे।"

वे ही आचार्य व्हेटली साहब अवधान का अच्छा अध्ययन किये हुए प्रतीत होते हैं और उसकी बारीकियों के विषय में अच्छा उपदेश देते हैं। नीचे लिखी बात के पढ़ने से लाभ हो सकता है और यदि मनुष्य इसे अच्छी तरह समझ जाय तो लाभ के सहित इसका व्यवहार कर सकता है। वे कहते हैं कि "यह सही बात है और अद्भुत भी है कि बहुत से मनुष्यों को ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी गम्भीर विषय में तभी पूरा अवधान दे सकते हैं जब वे किसी अन्य बात में लगे हैं, जिसमें थोड़े ही, बहुत ही थोड़े अवधान की आवश्यकता होती है, जैसे सूई से काम करना, काग़ज़ के सफ़हों को काटना, या यदि ऐसा कार्य न मिल सके तो अपनी अंगुलियों

ही के साथ खेलते रहना"। वह इस बात का कारण नहीं देते, और पहली दृष्टि में तो यह बात 'एक समय में एक ही काम की भावना' की विरोधी प्रतीत होता है। परन्तु पूरी जाँच से विदित होगा कि ये छोटे २ कार्य (जैसे सफहे काटना इत्यादि) स्वयम् अनैच्छिक या स्वत:जात गतियां हैं, क्योंकि इन में ऐच्छिक अवधान की आवश्यकता ही नहीं पड़ती और वे आप से आप होते हुए प्रतीत होते हैं। इनके कारण प्रधान विषय से अवधान हटता नहीं परन्तु ये फाज़िल अवधान की जो एक ऐच्छिक कार्य से दूसरे में बट जाने की चेष्टा करता है, अपने में फंसाये रखते हैं। मन आदत का एक कार्य करता है तब तक अवधान दूसरे कार्य में लगा हुआ है। उदाहरण के लिये उस मनुष्य का ख्याल कीजिये जो कोई गम्भीर लेख लिख रहा है। उसका अवधान तो दृढ़ता के साथ लेख के विषय में लगा हुआ है पर साथ ही उसका हाथ लिखने में लगा है जिसमें जाहिरा कुछ भी अवधान लगा नहीं प्रतीत होता। परन्तु किसी बालक या ऐसे मनुष्य को जिसे लिखने का अभ्यास नहीं है अपने ख्यालों को लेख द्वारा प्रगट करने को कहिये तो आप पर विदित हो जायगा कि उसके ख्यालात के प्रवाह में इस बात से बहुत ही बाधा पहुंच रही है कि उसे लिखने की क्रिया में अधिक अवधान देना पड़ता है। इसी प्रकार टाइप राइटिंग के नये सीखने वाले के लिये किसी विषय पर तत्काल प्रबंध रचते जाना और साथ ही उसे टाइप करते जाना बहुत ही कठिन कार्य है, परन्तु सिद्धहस्त टाइपिस्ट अपने विचारों के प्रवाह और अवधान की एकाग्रता में टाइपराइटिंग में अंगुलियों

के संचालन से कोई बाधा नहीं पाता। अब हम ख्याल करते हैं कि आप इस तत्व को समझ गये होंगे।

अब हम अवधान के जगाने और उन्नत करने के लिये मानासिक अभ्यास देंगे जिससे आप इस प्रधान शक्ति को विकसित कर सकें।

अवधान के लिये मानासिक अभ्यास

(१) पहले किसी परिचित वस्तु को लेकर अपने सम्मुख रक्खो और उसके विषय में इतने समाचार जानने का यत्न करो जितने तुम्हारे लिये सम्भव हों। उसके आकार, रंग, परिमाण और अनेक विशेषताओं को, जो तुम्हारे अवधान के सम्मुख उपस्थित हों, अध्ययन करो। ऐसा करने में उस पदार्थ को सरल से सरल भागों में (मनसा) कर डालो, उसका यथासाध्य विश्लेषण करो, मनसा खंड २ करो और उसके भागों का सविस्तर अध्ययन करो। जितने ही सरल और छोटे खंड विचार में लाये जायँगे, उतनी ही स्पष्टता से उनका मन पर अङ्कन होगा और उतनी ही स्पष्टता से वे स्मरण किये जा सकेंगे। उस वस्तु को छोटे से छोटे सम्बन्ध में लाओ और तब प्रत्येक खंड की जाँच करो, और जब एक की जाँच कर चुको तब दूसरे खंड की जाँच में लगो और इसी प्रकार करते जाओ जब तक सारी वस्तु की जाँच न कर लो। और जब समाप्त कर चुको तब कागज पेंसिल लेकर उस वस्तु की यथा साध्य सब बारीकियों को लिख डालो। जब ऐसा कर चुको तब लिखे हुए विवरण का मिलान उस

वस्तु से करो और देखो कि कितनी बातों का विवरण तुम्हारे लेख में छुट गया है।

दूसरे दिन फिर उसी वस्तु को लो और फिर से जाँच करने के पश्चात् विवरण लिख लो और तब तुम्हें मालूम होगा कि उसके विषय में और अधिक जनाकारी प्राप्त हो गई है और इसके अतिरिक्त तुम्हारी दूसरी जाँच में बहुत सी नई बातें तुम्हें मालूम हो जायँगी। इस अभ्यास से स्मृति और अवधान दोनों सुदृढ़ होते हैं, क्योंकि दोनों बहुत घने सम्बन्धी हैं। स्मृति अधिकतर ग्रहण किये हुए अंकनों की दृढ़ता पर अवलम्बित है और अंकन अवधान की उस मात्रा पर अवलम्बित है जो वस्तु के निरीक्षण में लगाई गई है। अभ्यास में अपने को थका मत डालो, क्योंकि थका हुआ अवधान बहुत ही निर्बल अवधान होता है। अच्छा होगा कि इसका अभ्यास क्रमशः बढ़ाओ। जब २ इस अभ्यास को करो प्रत्येक बार थोड़ा २ बढ़ाते जावो। अगर चाहो तो इस अभ्यास का एक खेल बना डालो। इससे स्थिर और क्रमशः उन्नति देख कर तुम बहुत प्रसन्न होगे।

इसका अभ्यास किसी मित्र के संग करना बहुत अच्छा होगा। दोनों जन एक ही वस्तु की जाँच करें और अपने २ अंकनो को पृथक् पृथक् लिखते जायें और तब अन्त में अपने २ लेखों का मिलान करलें। इससे कार्य में मनोरंजन होगा और कुछ दिनों में तुम्हें आश्चर्य होगा कि तुम दोनों ने निरीक्षण शक्ति में कितनी अधिक उन्नति कर ली है, और यह शक्ति अवधान की उन्नति से बढ़ी है।

(२) अब यह अभ्यास पहले अभ्यास का रूपान्तर है। यह अभ्यास इस प्रकार का है कि एक कमरे में प्रवेश करो और शीघ्रता से चारो ओर दृष्टि डालो और फिर बाहर निकलआओ, और जितनी वस्तुओं को देख लिया है उनकी सूची और विवरण लिख डालो। पहले तुम बहुत सी वस्तुओं को छोड़ दोगे परन्तु अभ्यास से तुम इतनी वस्तुओं का निरीक्षण कर सकोगे कि जिनकी संख्या और विवरण से बहुतों को आश्चर्य होगा। इस अभ्यास में भी मित्र की सहायता से, जैसा ऊपर वर्णन हुआ है, बड़ा लाभ होगा। फ्रांसीसी जादूगर हूडिन के विषय में कहा जाता है कि उसने अपने रिश्तेदार के साथ इसी खेल को खेलते २ अपनी अवधान और स्मरण शक्तियों को बहुत ही उन्नत और विकसित कर लिया। वे दोनों किसी दूकान की खिड़की के पास से होकर गुज़रते और शीघ्रता से अवधान सहित खिड़की में दृष्टि डालते थे। और तब दोनों जन एक किनारे जाकर अपने २ मानसिक अंकनों का मीलान करते। पहले तो वे बहुत थोड़ी सी मुख्य २ वस्तुओं को स्मृति में धारणा कर सकते अर्थात् उनका अवधान थोड़ी ही वस्तुओंका ग्रहण कर सकता, परन्तु ज्यों २ अभ्यास द्वारा उनका विकास होता गया त्यों २ उनको मालूम हुआ कि ये एक बहुत ही बड़ी संख्या की वस्तुओं को निरीक्षण और स्मरण करने लगे। अन्त में, ऐसा कहा जाता है कि हूडिन किसी बड़ी दूकान की खिड़की के पास से शीघ्रता से जाते हुए, और एक दृष्टि खिड़की में डाल कर, उस दूकान की चीजों की ऐसी सूची और विवरण

बतलाने लगता था मानो प्रत्यक्ष देखता जाता है और सूची और विवरण देता जाता है। यह क्रिया इस प्रकार सम्पादित होती थी कि जगा हुआ और विकसित अवधान द्वारा हूडिन ऐसा समर्थ हो गया कि वह अपने मानस पर खिड़की और उसके भीतर की वस्तुओं की प्रतिमूर्ति को अंकित कर लेता और तब अपने मन में अंकित प्रतिमूर्ति से एक २ वस्तु का विवरण देने लगता।

हूडिन ने अपने लड़के को अवधान उन्नत करने की शिक्षा डामिनो द्वारा दी। लड़का और भी आश्चर्य जनक अवधान वाला हो गया।

यदि यह बात आप को अविश्वसनीय प्रतीत होती हो तो ख्याल तो कीजिये कि ताश के पक्के खेलाड़ी कैसे गड्डी के प्रत्येक पत्ते को स्मरण रखते हैं और बतला सकते हैं कि अमुक पत्ता खेला जा चुका है या नहीं और वह कैसे २ खेला जा चुका है। यही हाल शतरंज के खेलाड़ियों का है। जो प्रत्येक चाल को बड़े अवधान के साथ निरीक्षण करते जाते हैं और खेल के खतम होने पर बहुत समय के बाद भी वर्णन कर सकते हैं कि कैसे २ कौन २ सा मोहरा चला गया था। इस बात पर भी ध्यान दीजिये कि जब एक मेम बाजार में जाती हुई दूसरी मेम के पास से हो कर गुजरती है और उस स्त्री पर केवल एक लापरवाही की सी दृष्टि डालती आगे बढ़ती हुई प्रतीत होती है तौभी वह उस मेम के वस्त्रों की प्रत्येक बारीकी का वर्णन कर सकती है कि कैसा २ उनका रंग था, कैसी बुनावट, कैसी काट, और अनुमानतः कितनी कीमत रही होंगी इत्यादि।

साधारण मनुष्य कदाचित ही कुछ स्मरण कर सका होता, क्योंकि वह उस वस्त्र पर अवधान ही न देता। परन्तु यह मनुष्य भी कितने अधिक अवधान से उस वस्त्र को देखता यदि इसका रोजगार उस पर अवलम्बित होता या वह किसी मित्र के साथ बाज़ी लगाये होता कि देखें कौन मनुष्य किसी राह चलती औरत के कपड़ों की बारीकियों का निरीक्षण करके अधिक विस्तार से विवरण दे सकता है। आप देखते हैं कि यह सब मनोयोग और अवधान की बात है।

इस बात को तो हम भूल जाते हैं कि अवधान उन्नत और विकसित किया जा सकता है पर यह शिकायत करने के लिये सर्वदा अग्रसर रहते हैं कि हम स्मरण नहीं रख सकते या हम चीज़ों की स्मृति को ग्रहण करने में समर्थ नहीं मालूम होते। थोड़े ही अभ्यास से इस विषय में आश्चर्यजनक उन्नति होगी।

ऊपर के अभ्यास से आप की निरीक्षण और स्मरण की शक्तियाँ उन्नति करेंगी, परन्तु इसी उन्नति के लिये हमने इस अभ्यास को यहाँ नहीं दिया है। हमारा उद्देश्य सुदूरव्यापी है जो समय पाकर मालूम होगा। हमारा अभिप्राय आप की आकांक्षा को विकसित करना है और हम जानते हैं कि अवधान आकांक्षा शक्ति के द्वार पर है। अपनी आकांक्षा को व्यवहार करने में समर्थ होने के लिये आपको अवधान को सबल और स्पष्ट रीति से एकाग्र करना होगा। इन खेल के सदृश अभ्यासों के द्वारा अवधान के मानसिक अवयव विकसित होंगे। यदि आप उन खेलों का अनुभव करते जो युवक योगी शिष्यों को

खेलाये जाते हैं जिससे उनकी मानसिक शक्तियों का विकास हो, तो आप योग के आचार्यों के विषय में जिन्हें आप स्वप्नदर्शी ख्याल किया करते हैं, अपने मत को बदल देते। ये योगी लोग और इनके शिष्यगण स्वप्नदर्शी ही नहीं होते, किन्तु ठीक २ कर्मवीर होते हैं। इन लोगों ने मन के ऊपर प्रभुता प्राप्त कर ली है, ये मन की शक्तियों के स्वामी हैं, और उन्हें पैनी धार वाले औज़ारों की भांति व्यवहार करने में समर्थ होते हैं, जब कि साधारण मनुष्य को यही प्रतीत होता है कि इसका औज़ार कुन्द और भद्दा है जो केवल चीरने फाड़ने का काम देता है और बारीक कारीगरी का काम नहीं बना सकता। योगियों का विश्वास है कि "अहम्" को काम करने के लिये बहुत ही अच्छा औज़ार देना चाहिये और इसी लिये वे औज़ारों को तेज और बारीक बनाने में इतना समय लगाते हैं। नहीं, नहीं, योगी लोग स्वप्न देखनेवाले नहीं होते। इनके कार्यशील बातों के ग्रहण को देख कर बहुत से पश्चिमी कर्मवीर और कार्यपटु लोग चकित हो जाते, यदि वे इनकी शक्तियों को गौर से देखते।

इसी लिये हम आप से कहते हैं कि 'चीजों के निरीक्षण करने का अभ्यास कीजिये'। ऊपर जो दो अभ्यास दिये गये हैं वह केवल साधारण रीति बतलाई गई है। इस प्रकार हजारों अभ्यास दिये जा सकते हैं, परन्तु उन्हें आप भी वैसे ही बना सकते हैं, जैसे हम बना सकते हैं। छोटे २ हिन्दू बच्चों को इस प्रकार अवधान देना सिखाया जाता है कि खुली हथेली पर बहुत से रंगीन पत्थर या जवाहिरात उन्हें क्षणभर

दिखाकर मुट्ठी बन्द कर ली जाती है और तब उनसे उन पत्थरों की संख्या, रंग, ख़ासियत और अन्य बारीकियाँ पूछी जाती हैं। उन बच्चों से कहा जाता है कि चलते हुए मुसाफिरों और उनके सामान को दूर से देख लें और फिर उनका वर्णन करें, वैसे ही अपनी यात्राओं में मकानों को देख कर उनका वर्णन करें। इसी प्रकार नित्यप्रति की हज़ारों बातें हैं। इसका परिणाम आश्चर्य-जनक होता है। इस प्रकार वे चेला या शिष्य बनाये जाते हैं और उनका मस्तिष्क पूरा विकसित और मन भली भांति आकांक्षा का वशवर्ती बन जाता है और उनकी मानसिक शक्तियाँ ऐसी जग जाती हैं कि क्षण भर में वे जितनी बातों को देख और ग्रहण कर लेते हैं उतनी बातें साधारण मनुष्य एक पखवारे में भी नहीं ग्रहण कर सकते। यह बात सत्य है कि वे इन शक्तियों को अपने रोजगार और अन्य कर्मशील कार्यों में नहीं लगाते, परन्तु उन्हें वे गूढ़ बातों के अध्ययन में व्यवहार करते हैं जो उन बातों से परे की हैं, जिन्हें पश्चिमी मनुष्य जीवन के फल और उद्देश्य समझते हैं। परन्तु स्मरण रखिये कि पूर्वी और पश्चिमी दोनों सभ्यताएँ एक दूसरेसे भिन्न हैं, भिन्न २ आदर्शों की अनुवर्तिनी हैं, भिन्न २ आर्थिक दशाओंवाली हैं—मानों भिन्न २ संसारों की वस्तुएँ हैं। परन्तु यह सब रुचि और आदर्शों का मामला है। कार्यशील जीवन की शक्तियाँ चेले में भी होती हैं, यदि वह उनका सांसारिक कार्यों में व्यवहार करे। परन्तु स्मरण रखिये कि हिन्दुओं के सब बच्चे चेले नहीं होते और न सब पश्चिमी ही मनुष्य व्या-पार के नेता एडिसन की भांति होते हैं।

मंत्र।

मैं अपने अवधान को मानसिक शक्तियों के विकसाने के लिये व्यवहार कर रहा हूं जिससे "अहम्" को पक्का औजार कार्य करने के लिये मिले। मन "मेरा" औजार है और मैं उसे ऐसे सामर्थ्य की दशा में ला रहा हूँ कि जिससे पूरा काम हो सके।

छठवाँ पाठ।

प्रत्यक्षीकरण का विकसाना।

मनुष्य बाहरी संसार का ज्ञान अपनी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करता है और इसी लिये हम में से बहुत से मनुष्य ऐसा समझा करते हैं मानों इन्द्रियां ही बाहरी जगत की लहरों को मन के पास जाँच के लिये पहुँचानेवाली वस्तु के स्थान पर स्वयम् ज्ञान को देनेवाली हैं। हम इस विषय का अधिक सविस्तर वर्णन आगे चल कर इसी पाठ में देवेंगे। इस समय हम आपके मन पर केवल इसी बात को अंकित किया चाहते हैं कि प्रत्यक्ष करनेवाला मन होता है, न कि इन्द्रियाँ और इस लिये प्रत्यक्षीकरण का विकास मन का विकाश है।

योगी लोग अपने शिष्यों को प्रत्यक्षीकरण की शक्तियों को जगाने के लिये बड़े कठिन २ अभ्यासों में लगाते हैं। बहुतों को यह इन्द्रियों का विकाश प्रतीत होगा, जो इस दृष्टि से अनुचित जान पड़ेगा कि योगी लोग तो इन्द्रियों के वशवर्ती होने को मूर्खता बतलाते हैं। परन्तु इस सब में कोई विरोधी नहीं है, क्योंकि योगी लोग यद्यपि ऐन्द्रिय-भोग-जीवन को मूर्खता बताते हैं और अपने जीवन व्यवहार से अपने उपदेश को सत्य प्रगट कर देते हैं परन्तु तौ भी वे उन अभ्यासों को अच्छा समझते हैं जिनके द्वारा मन तीव्र और अपने कार्यों में सुपटु होता है।

वे एक ओर तो तीव्र प्रत्यक्षीकरण की शक्ति रखने और दूसरी ओर इन्द्रियों के दास बनने में बड़ा अन्तर देखते हैं। उदाहरण के लिये, ऐसे मनुष्य में क्या ख्याल किया जायगा जो तीव्र दृष्टि प्राप्त करने में यह आपत्ति करे कि तीव्र दृष्टि से जब वह सुन्दर वस्तुओं को देखेगा तो वह उच्च बातों को छोड़ कर इसी सौन्दर्य में फँस जायगा। ऐसी भावना की मूर्खता को समझने के लिये मनुष्य को इसके तार्किक परिणाम पर दृष्टि डालनी चाहिये जो यह होगा कि यदि मनुष्य अपनी सब इन्द्रियों को नष्ट कर देता तो वह बहुत ही अच्छा रहता। एक क्षण भी बिचार करने से ऐसी भावना की मूर्खता और दुष्टता प्रत्येक मनुष्य को विदित होजावेगी।

योगियों की युक्ति और उनके उपदेशों की मूलमंत्र, मानसिक शक्तियों के विकास के सम्बन्ध में, "प्रभुता" शब्द में है। योग विद्या का शिष्य इस प्रभुता को दो रीतियों से प्राप्त करता है। पहली रीति तो यह है कि सब भावनाओं, आवेशों, ऐन्द्रिय शंसनों इत्यादि को "अहम्" की प्रभुता अथवा आकांक्षा के अधीन रक्खे। इस प्रकार "अहम्" के शासन को शक्तियों और मनोविकारों पर स्थापित करने से प्रभुता प्राप्त होती है। दूसरा चरण या तरीका यह है कि जब एक बार प्रभुता अच्छी तरह स्थापित हो जाय तब योगी मानसिक औज़ारों को विकसित और पूरा करने लगे जिससे उन औज़ारों से अच्छा काम और फल प्राप्त कर सके। इस प्रकार योगी अपने राज्य को बढ़ाता है और सुविस्तृत देश का प्रभु होता है।

यदि कोई मनुष्य ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो उसके लिये आवश्यक है कि वह अपने अधीनस्थ मानसिक साधनों और औज़ारों से अधिक से अधिक काम ले और फिर इन साधनों और औज़ारों को तेज़ और परिष्कृत बनाये रक्खे, उन पर शान बनाये रहे। प्रत्यक्षीकरण की शक्तियों के विकाश से बड़ा लाभ ही नहीं होता, किन्तु इससे सारे मन की शिक्षा होती है जो अभ्यास द्वारा मन के शासन और शिक्षण से उत्पन्न होती है। पिछले पाठों में हमने ऐसे कुछ साधन बतलाये हैं जिन से ये शक्तियां बहुत कुछ उन्नत हो जायँ और इनकी कार्य पटुता बढ़ जाय। इस पाठ में हम ऐसे उपाय बतलावेंगे जिन से प्रत्यक्षीकरण की शक्तियों की शिक्षा मिले। हमारा विश्वास है कि इस उपाय की सरलता के कारण हमारे शिष्य इससे मन न फेर लेवेंगे। यदि वे जान जाते कि इस विकास का क्या फल होगा तो वे बड़ी प्रसन्नता से इस विषय के हमारे उपदेशों का अनुसरण करते। इन बातों और अभ्यासों में प्रत्येक का यही उद्देश्य है कि मन पुष्ट और बलवान हो और बल की प्राप्ति तथा शक्तियों का विकास हो। राजयोग के लिये कोई अन्य सुलभ मार्ग नहीं है। शिष्य को साधन करना पड़ेगा, परन्तु सिद्धिरूपी पहाड़ी पर की चढ़ाई का बहुत बड़ा प्रतिफल प्राप्त होगा।

ऊपर की बातों के ख्याल से आइये इन्द्रियों के प्रश्न की जाँच करें। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारों से मनुष्य बाहरी जगत का सारा ज्ञान प्राप्त करता है। यदि वह इन द्वारों को आधा ही खुला रक्खे या वहाँ बहुत से विघ्न और रुकावटें उपस्थित

कर दे, तो उसे बाहर से बहुत ही कम सम्बाद मिलेंगे। परन्तु यदि वह अपने द्वारों को निर्बाध और साफ बनाये रहेगा तो उसे पूरे सम्वाद मिलेंगे।

यदि कोई मनुष्य बिना इन्द्रियों के उत्पन्न होता तो चाहे उसका मन कैसा अच्छा होता, पर उसे विवश हो कर पौधों की भांति का स्वप्नशील जीवन बिताना पड़ता जिसमें चेतना का अभाव ही सा रहता। मन पृथ्वी में के उस बीज के समान रहता जो किसी कारण से जमने से वंचित है।

कोई महाशय आपत्ति कर सकते हैं कि उच्च से उच्च भावनाएँ तो हमें इन्द्रियों द्वारा नहीं प्राप्त होतीं, परन्तु इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषय "कच्चे माल" हैं। जिन पर मन कार्य करता है और उन सुन्दर २ विचारों को उत्पन्न करता है, जिन्हें वह ऊंची से ऊंची कक्षा में कर सकता है। जैसे शरीर अपनी पुष्टि के लिये खाये हुए भोजन पर अवलम्बित रहता है, वैसे ही मन अपनी वृद्धि और उन्नति के लिये विश्व से प्राप्त अंकनों अर्थात् शंसनों पर अवलम्बित रहता है, और ये अंकन अधिकतर इन्द्रियों ही द्वारा प्राप्त होते हैं। अब यह शंका हो सकती है कि हम लोग बहुत सी ऐसी बातों को जानते हैं जिन्हें हमने अपनी इन्द्रियों द्वारा नहीं ग्रहण किया है। परन्तु क्या शंका करनेवाला उन अंकनों को भी इसी श्रेणी में गिनता है जिन्हें उसने पूर्व जन्म में प्राप्त किया था, और जो उसके प्रवृत्ति मानस अथवा जीवनस्मृति में अंकित हो गये हैं? यह बात सत्य है कि इन प्रगट इन्द्रियों के अतिरिक्त और भी उच्च इन्द्रियाँ हैं, परन्तु प्रकृति आज्ञा देती है कि

कि पहले नीची कक्षा के पाठों को सीख लो तब ऊंची कक्षा के लिये यत्न करो।

इस बात को मत भूलो कि जो कुछ हम जानते हैं सब के सीखने के लिये हमने पहले यत्न किया है। ऐसी कोई बात नहीं है जो काहिल और जी चुरानेवाले मनुष्य को आप से आप आजाती हो। जो कुछ हम जानते हैं वह हमारे पूर्व अनुभव का संचित योग फल है।

इस प्रकार आप देखते हैं कि योगी की यह भावना कि मनुष्य को मन के सब भागों को उन्नत और विकासित करना चाहिये नितान्त सत्य है, यदि आप जाँचने का परिश्रम उठावेंगे। मनुष्य देखता है और जानता केवल बहुत ही थोड़ा है कि हमारे चारो ओर क्या हो रहा है। उसकी परिमितियाँ बहुत हैं। उसकी दृष्टि शक्ति प्रकाश की बहुत कम लहरों की सूचना देती है और इस कक्षा के नीचे और ऊपर अनन्त लहरें हैं जो मनुष्य को अज्ञात हैं। यही बात श्रवण शक्ति के विषय में भी सत्य है क्योंकि अपेक्षत: बहुत ही कम शाब्दिक लहरें मनुष्य के मन तक पहुँचती है, यहां तक कि बाजे २ पशु भी मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुनते हैं।

यदि किसी मनुष्य के पास केवल एक ही इन्द्रिय होती तो उसे बाह्य जगत की केवल एकैन्द्रीय भावना होती। यदि दूसरी इन्द्रिय और बढ़ जाती तो उसका ज्ञान दूना हो जाता। और इसी प्रकार क्रमश: समझिये। बढ़े हुए ऐन्द्रीय ज्ञान और विकास के मध्य सम्बन्ध का सर्वोत्तम प्रमाण जन्तुओं के रूप के विकास के अध्ययन में पाया जाता है। जीवन की

प्रारम्भिक दशा में देह को केवल स्पर्शेन्द्रिय मात्र थी सो भी बहुत ही निर्बल और अत्यन्त निर्बल रसना इन्द्रिय थी। तब घ्राणेन्द्रिय का विकास हुआ फिर श्रवण तब दृष्टि का विकास हुआ, प्रत्येक विकास जीवन के सोपान में उन्नति की एक पृथक कक्षा था, क्योंकि जीवन के उन्नति करते हुए रूपों को क्रमशः नयी और नयी दुनिया खुलती गई। और जब मनुष्य नयी इन्द्रियों का विकास करेगा, और यह बात मानव-जाति के आगे है, तब वह और भी अधिक ज्ञानवान और बड़ा जीव हो जायगा।

बहुत दिन हुए कि कारपेंटर साहब ने ऐसी भावना की घोषणा की थी जो कि योगियों की नयी इन्द्रियों के विकास की शिक्षा से अभिज्ञ मनुष्यों को याद होगी। उन्होंने कहा था कि "यह असम्भव बात नहीं है कि मूर्त वस्तुओं में ऐसी भी विशेषताएँ हैं जिन्हें हमारी वर्तमान इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण कर सकतीं और जिन्हें दूसरे नये जीव वैसे ही प्रत्यक्ष कर सकें जैसे हम प्रकाश, शब्द इत्यादि को प्रत्यक्ष करते हैं।

केवल यहां ही तक नहीं, किन्तु मनुष्य अपनी ज्ञानशक्तियों और अनुभव शक्तियों को बहुत बढ़ा सकता है। यदि वह अपनी वर्तमान ही इन्द्रियों को और ऊंचे दर्जे तक विकसित कर दे और उन्हें निश्चेष्ट कर के शक्तिहीन न हो जाने दे। इसी अभिप्राय से यह पाठ लिखा गया है।

मन बाह्य संसार के अंकनों अर्थात् शंसनों को मस्तिष्क और इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है। ज्ञानेन्द्रियां मन की औजार हैं और वैसे ही मस्तिष्क और सारी नाड़ी सम्प्रदाय भी मन

का औजार है। नाड़ी सम्प्रदाय और मस्तिष्क के द्वारा मन ज्ञानेन्द्रियों का व्यवहार करता है जिससे वह बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सके।

ऐसा प्रायः कहा जाता है कि इन्द्रियाँ पांच प्रकार की हैं अर्थात् चक्षु, श्रवण, घ्राण, स्पर्श और रसना। योगी लोग सिखाते हैं कि उच्च इन्द्रियाँ भी हैं जो अधिकांश मनुष्यों में अविकसित या अल्प विकासित हैं परन्तु जिनके विकास की ओर मानव जाति आगे बढ़ रही है। परन्तु इस पाठ में हम इन गुप्त इन्द्रियों के विषय में कुछ न कहेंगे क्योंकि ये इस विषय के अन्य पटल से सम्बन्ध रखती हैं। ऊपर लिखी हुई पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त और भी इन्द्रियों के चिन्ह पाये जाते हैं, ऐसा शरीर-विज्ञानी और मनोविज्ञानी कहते हैं। उदाहरण के लिये वह इन्द्रिय जिसके द्वारा भीतरी अवयव अपना अस्तित्व और अपनी दशा प्रगट करते हैं। मांस पेशियों का सम्प्रदाय किसी इन्द्रिय ही द्वारा, जो स्पर्श्य नहीं है, यद्यपि स्पर्श ही से मिलती जुलती है, मन को सम्वेदना पहुँचाता है। भूख प्यास का बोध हमे किसी बे-नाम की इन्द्रिय द्वारा होता है।

वर्न्स्टीन साहब ने पांच प्रधान इन्द्रियों और ऊपर लिखी बेनाम की इन्द्रिय में इस प्रकार भेद बतलाया है कि "इस बेनाम की इन्द्रिय की संवेदनाओं और पांचो ज्ञानेन्द्रियों की संवेदनाओं में यह अन्तर है कि पिछली संवेदनाओं द्वारा हम उन वस्तुओं और घटनाओं का ज्ञान ग्रहण करते हैं जो बाह्य जगत से सम्बन्ध रखती हैं और पहली संवेदनाओं द्वारा हम अपने ही शरीर की दशा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।"

संवेदना या शंसन वह भीतरी मानसिक भावना है जो उस बाहरी वस्तु या बात से उत्पन्न होती है। जो ज्ञानेन्द्रिय, नाड़ियों और मस्तिष्क को उत्तेजित करता है और इस प्रकार मन को उस बाहरी वस्तु या बात से सचेतन कर देती है।

ज्ञानांकनों के प्रत्येक मार्ग के लिये एक इन्द्रिय, या कई इन्द्रियां हैं, जो उसके द्रव्य को, एक विशेष प्रकार की लहरों द्वारा, जिनसे अंकन ग्रहण किया जाता है, उत्तेजित करने में विशेष रूप से उपयुक्त हैं। आंखें बहुत ही चतुराई से बनाई गई हैं कि ज्योति की लहरों को ग्रहण कर सकें। शब्द की लहरें उन पर कोई असर नहीं पहुँचातीं। इसी प्रकार कान की नाजुक कारीगरी केवल शब्द की लहरों को ग्रहण करती है, प्रकाश की लहरें उस पर कोई अंकन नहीं पहुँचा सकतीं। प्रत्येक जाति के शंसन बहुत ही भिन्न होते हैं, और प्रत्येक जाति के शंसनों को ग्रहण करने की इन्द्रियां और नाड़ियां अपने ही कार्य के ठीक अनुकूल बनाई गई हैं। ज्ञानेन्द्रियां अपने नाड़ी सम्प्रदायों के सहित उस बारीक औज़ार की समता में हैं जिसे मन ने अपने व्यवहार के लिये बनाया हो कि जिससे बाहरी संसार से ज्ञान प्राप्त कर सके और उसकी जाँच कर सके।

हम इन्द्रियों की क्रियाओं के इतने अभ्यस्त होगये हैं कि हम उन्हें एक साधारण बात समझे हुए हैं और उन्हें वह नाजुक और अद्भुत औज़ार नहीं समझते जिसे मन ने अपने व्यवहार के लिये सोचा और बनाया है। यदि हम जीव को इन औज़ारों का सोचने और गढ़नेवाला समझें तब हम अपने

जीवन के साथ इनके सच्चे सम्बन्ध को समझ सकते हैं और तब इसी के अनुसार हम इन्हें अधिक आदर और सम्मान के साथ व्यवहार कर सकते हैं।

हम लोग ऐसा समझने के आदी हो गये हैं कि जितनी संवेदनाओं का हमारा मन प्राप्त करता है उन सबों के हम जानकार हैं। परन्तु यह बात सचाई से बहुत दूर है। मन का अचेतन भाग उस चेतन भाग की अपेक्षा बहुत ही बड़ा है जिससे हम उस समय ख्याल करते हैं जब कहते हैं कि "हमारा मन"। आगे के पाठों में हम इसी अद्भुत भाग का विचार करेंगे और जांचेंगे कि उसमें क्या है। टेन साहब ने बहुत ही अच्छा कहा है कि हम लोगों के भीतर अनन्त विस्तार की आन्तरिक प्रक्रिया जारी है, उसके केवल प्रतिफल ही हमारे ज्ञान में आते हैं, और हमारे ज्ञान में समष्टि रूप से आते हैं और तत्वों के विषय में और उनके तत्वों में, चेतना उन तक नहीं पहुंचती। वे शंसनों अर्थात मनोवेदनाओं से वही सम्बन्ध रखते हैं जो अणु और उनके भी प्रारम्भिक अणु शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं। हम लोग इधर उधर कभी२ उन अस्पष्ट और अनन्त सृष्टियों की झांकी मात्र पा जाते हैं जो हमारी मनोवेदनाओं के अन्तर्तल में विस्तृत हैं। ये मिश्रित और पूर्ण हुआ करती हैं। उनके तत्वों की चेतना में आने के लिये आवश्यक है कि वे एक में संयुक्त होकर कुछ निश्चित परिमिति में आवें और कुछ निश्चित समय तक स्थित रहें, क्योंकि यदि समूह इस परिमिति में नहीं आता और इतने समय तक नहीं ठहरता तब हम परिवर्तन का ज्ञान नहीं प्राप्त

कर सकते । तिस पर भी, यद्यपि वह हमारे ज्ञान में नहीं आता तथापि वह वर्तमान अवश्य है ।"

परन्तु हम इस विषय के इस मनोरञ्जक से भी अधिक ऊंचे विषय के विचार को अभी स्थगित रक्खेंगे जब तक हम भविष्य के किसी पाठ में मन की उन भूमिकाओं का वर्णन न करेंगे जो चेतना के नीचे और ऊपर हैं । और इस वर्णन को हममें से बहुत से लोग अत्यन्त आश्चर्य्यजनक भी पावेंगे ।

इस समय तो हम उसी मार्ग का विचार करेंगे जिसके द्वारा ज्ञान और विचार की सामग्री हमारे मन तक पहुँचती है । क्योंकि ये बोध के अंकन, जो बाहर से हमारे पास आते हैं, वास्तव में सामग्री ही है, जिन पर मन क्रिया करता है जिससे वह पदार्थ बने जिसे विचार कहते हैं ।

इस सामग्री को हम इन्द्रियों के मार्ग से प्राप्त करते हैं और तब इसे उस अद्भुत भण्डार में संचय करते हैं जिसे स्मृति कहा जाता है, जहां से हम समय २ पर सामग्री लेकर विचाररूपी वस्तु रच डालते हैं । रचयिता की चातुरी उसकी शिक्षा और उस योग्यता पर अवलम्बित है जिससे वह उचित सामग्री को चुन और एकत्र कर सकती है । और अच्छी सामग्री को प्राप्त और संचय करना कार्य का मुख्य अंग है ।

ऐसा मन जिसमें अंकनों और अनुभवों की संचित सामग्री नहीं है, उस कारखाने के समान है जिसमें सामग्री ही का अभाव है । वहां की कलों को काम करने के लिये कोई वस्तु ही नहीं है इस लिये कलें बेकार पड़ी हुई रहती हैं ।

इस विषय पर थोड़ा ही ध्यान देने से विदित हो जायगा

कि इन्द्रियों को जितना ही अधिक अभ्यास और शिक्षा दी जायगी, उतनी ही अधिक मानसिक शक्ति और योग्यता बढ़ेगी। हम अपने मानसिक भंडार को जितना ही अधिक सामग्रियों से भरेंगे जिनसे विचार बन सकें उतने ही अच्छे और अधिक सामान (विचार) बन सकेंगे।

इस लिये हमें उचित है कि हम अपने मन की काहिल और सुस्त अवस्था से जग जायँ और अपनी ज्ञानेन्द्रियों और उनकी सहचारिणी शक्तियों के जगाने में लग जायँ, क्योंकि ऐसा करने से हम विचार और ज्ञान के लिये अपनी योग्यता बढ़ावेंगे।

अभ्यास बतलाने के पहले थोड़ा २ वर्णन इन्द्रियों और उनकी विशेषताओं का कर देना अच्छा होगा।

सब से प्रारम्भिक और सरल इन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय है। जीवन के नीच रूप, उच्च इन्द्रियों के जगाने के बहुत पहले से इस स्पर्शेन्द्रिय को धारण किये आते हैं। इस इन्द्रिय के बिना वे अपने भोजन को न पा सकते और न बाहरी अंकनों को जान सकते। जीवन की आदि अवस्था में शरीर के सभी अवयव स्पर्शेन्द्रिय का काम देते थे, यद्यपि सब उच्च रूपों में यह इन्द्रिय अब स्थान विशेष में परिमित हो गई है क्योंकि शरीर के कतिपय भाग अन्य भागों की अपेक्षा अधिक स्पर्शज्ञानशील होते हैं। स्पर्शेन्द्रिय का स्थान चमड़ा है और उसकी नाड़ियां चमड़े के सारे विस्तार भर फैली रहती हैं। हाथ, विशेष करके अगुलियां, और उनके छोर इस इन्द्रिय के प्रधान अंग हैं।

स्पर्श की तीव्रता शरीर के भिन्न २ अंगों में भिन्न २ हुआ

करती है। तजरुबे से देखा गया है कि परकार की दोनों नोकों को यदि जिह्वा के छोर पर छुलाया जाय तो वहाँ नोकों के बीच के बहुत कम फासले का बोध अंकित हो जायगा। जिह्वा के छोर पर जिस फासले पर एक बिन्दु से दो बिन्दु का अंकन पृथक् बोध होता है उस फासलेको एक लाइन कहते हैं। इसी लाइन को यदि प्रतिमान माना जाय तो हाथ की मध्यमा उंगली की हथेली वाले तल पर दो लाइनें अंकित होती हैं, होठों के तलपर चार लाइनें, पीठ के चर्म पर तथा भुजा और जांघ के मध्य भाग पर ४० लाइनों का अंकन होता है। भिन्न भिन्न मनुष्यों के साथ स्पर्श-ज्ञानशीलता की मात्रा भिन्न २ हुआ करती है। किसी मनुष्य की अंगुलियों में तीव्र स्पर्श-ज्ञानशक्ति होती है और किसीको बहुत ही कम होती है।

इसी प्रकार तौल ज्ञान के बोध में भी भिन्न २ मनुष्यों की भिन्न २ शक्ति हुआ करती है—चीजों की तौल के अन्तर को पहचानने में मनुष्यों की भिन्न २ शक्ति होती है। किसी २ मनुष्य को तो तौल की बहुत थोड़ी मात्रा के फर्क का भी ज्ञान हो जाता है। बहुत से लोग सर्दी गर्मी के बहुत बारीक अन्तर को भी स्पर्श द्वारा जान जाते हैं।

स्पर्शेन्द्रिय और उसके विकास से मनुष्य को बहुत ज्ञान प्राप्त होता है। इस इन्द्रिय के ज्ञान की मात्रा और तीव्रता में मनुष्य और जन्तुओं से बहुत बढ़ जाता है। किसी पशु की घ्राण, रसन, श्रवण और दृष्टि की इन्द्रियां मनुष्य की अपेक्षा अधिक प्रबल हो सकती हैं, परन्तु स्पर्शेन्द्रिय तो मनुष्य से बहुत ही नीची होती है। एनेग्जेगोरास ने कहा है कि यदि

पशुओं को हाथ और अँगुलियां होतीं तो वे मनुष्य की भांति के हो जाते ।

स्पर्श इन्द्रिय के विकास करने में शिष्य को स्मरण रखना चाहिये कि अवधान ही सफलता का मूल कारण है । किसी इन्द्रिय के विषय में क्यों न हो, जितनी ही अवधान की मात्रा अधिक होगी उतना ही अधिक इन्द्रिय का विकास होगा । जब किसी इन्द्रिय विशेष पर अवधान एकाग्र किया जाता है तो वह इन्द्रिय अधिक बोधग्राही और तीव्र हो जाती है । और अवधान के साथ २ बार २ अभ्यास करने से तो इन्द्रियां आश्चर्यजनक उन्नति करती है । इसके विपरीत यदि अवधान कहीं अन्यत्र लगा हो तो स्पर्शेन्द्रिय अधिकांश या कुल दबकर बेकार सी रहती हैं । इस बात के प्रमाण में शिष्य को यह स्मरण करना चाहिये कि मन को किसी भावना या विचार में लगा देने से मनुष्य असह्य पीड़ा के सहने में भी समर्थ हो सके हैं । वाइल्ड साहब ने कहा है कि "जिस शहीद का अवधान इन्द्रियों से हटकर किसी अन्य विषय में लग गया है, वह पीड़ाओं को केवल सहन ही नहीं कर सकता परन्तु उन्हें बुझा भी सकता है । अमेरिकाके आदिम निवासियों का मांस जब टुकड़े २ करके काटा जाता था तब वे उस पीड़ा को अपने मृत्यु की गीत में भुलवा देते थे और गुलाम लोग अपने ऊपर के अत्याचारों पर क्रोध के आवेश में आकर चाबुक की मार को सहन कर लेते थे ।"

उन मनुष्यों की, जिनकी जीविका में स्पर्शेन्द्रिय की तीव्रता अत्यन्त आवश्यक है, स्पर्शेन्द्रिय का आश्चर्यजनक

विकास पाया जाता है। खुदाऊ काम करनेवाला अपनी अंगु-लियों को तख्ते पर फेरता है और छोटी से छोटी गलती को भी पकड़ लेता है। कपड़ों का व्यापार करने वाला मनुष्य स्पर्श द्वारा कपड़े की सूक्ष्म से सूक्ष्म बारीकी को भी पहचान जाता है। ऊन को पृथक् करने वाले भी स्पर्श की बहुत बड़ी शक्ति रखते हैं। अंधे लोग अपने अंधेपन की त्रुटिको स्पर्शेन्द्रिय का विकाश करके बहुत कुछ पूरा कर लेते हैं। ऐसे मामले भी जाने गये हैं जहां अन्धों ने स्पर्शेन्द्रिय द्वारा रंग को पहचान लिया है।

रसनेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय से बहुत घना सम्बन्ध रखती है। सच तो यों है कि कुछ प्रमाण्य पुरुषों ने रसनेन्द्रिय को शरीर के किसी २ भाग में विशेष करके जिह्वा में अत्यन्त विकसी हुई स्पर्शेन्द्रिय माना है। यह स्मरण होगा कि जिव्हा में बहुत ही ऊँचे दर्जे की स्पर्शज्ञानशक्ति होती है और उसी में रसना शक्ति भी पूरी २ विकसित पाई जाती है। रसन और स्पर्श दोनों दशाओं में इन्द्रिय और उसके विषय को एक में लग जाना चाहिये, यह बात घ्राण, श्रवण और दृष्टि के लिये आव-श्यक नहीं। इस बात को भी स्मरण रखना चाहिये कि घ्राण, श्रवण और दृष्टि के लिये विशेष नाड़ियां हैं; और रसनेन्द्रिय की वेही नाड़ियां हैं जो स्पर्श इन्द्रिय की हैं। यह बात सत्य है कि रसनशक्ति शरीर के बहुत ही छोटे भाग में परिमित है और स्पर्शशक्ति सारे शरीर में फैली है। परन्तु इससे यही प्रगट होता है कि खास मुकाम पर खास विकास हुआ है। रसन शक्ति लार इत्यादि द्रवों की उपस्थिति पर भी बहुत कुछ अव-

लम्बित है, और वेही पदार्थ रसनेन्द्रिय द्वारा जाने जा सकते हैं जो द्रव में घुल जा सकते हैं।

शरीर-विज्ञानी लोग कहते हैं कि किसी २ मनुष्य की रसना इतनी तीव्र होती है कि दस लाख भाग में मिश्रित एक भाग कुचिला को भी पहचान जाती है। कुछ ऐसे भी रोजगार जैसे मदिरा चखनेवालों और चाय चखनेवालों इत्यादि के हैं जिसके अनुयायी रसन की विश्वासातीत शक्ति प्रगट कर देते हैं।

घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय से बहुत घना सम्बन्ध रखती है और अकसर उसी के साथ २ कार्य करती है, क्योंकि मुँह में पड़े हुए पदार्थ के छोटे २ अणु घ्राणेन्द्रिय तक भी उस छिद्र द्वारा पहुँचते हैं जो मुँह के पिछले भाग से घ्राण-इन्द्रिय तक पहुँचा हुआ है। इसके अतिरिक्त चीजों के गंध को उनके मुँह में जाने के पहले ही ग्रहण कर लेती है। घ्राण-इन्द्रिय चीजों के कणों को हवा के द्वारा नाक की आर्द्र झिल्ली तक पहुँचने के कारण अपनी क्रिया करती है। वह झिल्ली आर्द्र होने से उन कणों को ग्रहण और क्षणभर के लिये संग्रह कर लेती है और बारीक नाड़ी यंत्र उसके गुणों और भेदों की सूचना देता है और मन उस पदार्थ के ज्ञान से अभिज्ञ हो जाता है।

घ्राण की इन्द्रिय पशुओं में बहुत जगी हुई होती है क्योंकि उन्हें इस इन्द्रिय पर बहुत भरोसा करना पड़ता है। मनुष्यों के बहुत से रोजगारों में भी इस शक्ति के विकाश की आवश्यकता पड़ती है जैसे तम्बाकू, मदिरा, सुगंधित वस्तुएँ, रसायन आदि। कुछ अन्धे मनुष्यों के विषय में कहा गया है कि वे घ्राण इन्द्रिय द्वारा परिचित मनुष्यों को पहचान गये हैं।

रसन, स्पर्श और घ्राण इन्द्रियों की अपेक्षा श्रवणेन्द्रिय बहुत पेचीदा है। रसन, स्पर्श और घ्राण में विषयों का इन्द्रियों के साथ सामीप्य सन्बन्ध होना चाहिये, परन्तु श्रवण में विषय बहुत दूर भी रह सकती है और उसके अंकन हवा की लहरों द्वारा कान तक पहुँचते हैं जिन्हें श्रवणेन्द्रिय ग्रहण करके उनकी सूचना मनतक पहुँतचाती है। कान की भीतरी कारीगरी आश्चर्यजनक रीति से पेचीदा है और जो मनुष्य उस पर गौर करेगा वह आश्चार्यित हो जायगा। स्थानाभाव से उसका पूरा वर्णन यहां नहीं किया जा सकता। परन्तु शिष्य को सलाह दी जाती है कि यदि उसकी पहुँच किसी अच्छे पुस्तकालय तक हो तो वह इस विषय की पुस्तक द्वारा जांच करे। यह विषय मन की क्रियाओं का बहुत ही अच्छा उदाहरण है कि कैसे मन अपने व्यवहार के लिये—ज्ञान प्राप्त करने के लिये—औजार गढ़ लेता है।

कान हवा की लहरों को २० या ३२ प्रति सेकंड से लेकर, जो न्यून से न्यून श्रवणयोग्य स्वर की मात्रा है, ३८००० प्रति सेकंड तक, जो ऊंची से ऊंची मात्रा है, ग्रहण कर सकता है। श्रवण इन्द्रिय की तीव्रता के विषय में भिन्न २ मनुष्यों में बड़ा अन्तर हुआ करता है। परन्तु सभी लोग अवधान के लगाव से इसका विकास कर सकते हैं। पशु और जंगली मनुष्य स्पष्टता के पथ पर अपनी श्रूवणेन्द्रियों को बहुत ही विकसाये हुए होते हैं—इसके विपरीत संगीताचार्य लोग अपनी इस इन्द्रिय को अन्य ही पथ पर विकसाते हैं।

मनुष्य की सब इन्द्रियों में चक्षु ही सब से उच्च और

पेचीदा इन्द्रिय है। यह बहुत से विषयों से और बड़े २ फासले पर बर्तती है और अपनी सहचारिणी इन्द्रियों की अपेक्षा अनेक भांतियों की सूचना मनको देती है। यह स्पर्शेन्द्रिय ही है, जो कई गुना अधिक बलवती की गई है।

विलसन साहब कहते हैं कि "हमारा चक्षु बहुत ही बारीक और बहुविस्तृत प्रकार की स्पर्शेन्द्रिय कहा जा सकता है जो अपने को अनगिनत चीज़ों पर फैलाये हुये है, बड़ी से बड़ी आकृति को ग्रहण कर सकती है और विश्व के सुदूर व्यापी भागों में से बहुतों को हमारी पहुँच के भीतर लाती है।"

चक्षु-इन्द्रिय बाहरी जगत की चीज़ों के अंकनों को उन लहरों के द्वारा ग्रहण करती है, जो एक चीज़ से दूसरी चीज़ में सूर्य से पृथ्वी पर, और दीपक से हमारे नेत्र तक जाया करती है। ये प्रकाश की लहरें पदार्थों के कम्प से, जो विश्वासातीत शीघ्रता से हुआ करते हैं, उत्पन्न होती हैं। न्यूनातिन्यून प्रकाश का कम्प प्रति सेकंड ४५००००००००००००० हुआ करता है और ऊंचा से ऊंचा कम्प प्रति सेकंड ७५००००००००००००० होता है। ये संख्याएं तो केवल उन कम्पों की हैं जो प्रकाश के रूप में चक्षुग्राह्य हैं। इन संख्याओं के ऊपर और नीचे अनगिनत ऐसी कक्षाएं हैं जो आँख से अदृश्य हैं यद्यपि उन में से कतिपय यंत्रों द्वारा ग्रहण की जा सकती हैं। रंग विषयक भिन्न २ वेदनायें इन्हीं कम्पों की प्रति सेकंड संख्या पर अवलम्बित हैं, लाल रंग न्यूनातिन्यून परिमाण और कासनी रंग अधिकाधिक कम्पों के परिमाण के द्योतक है; नारंजी, पीला, हरा, नीला आदि रंग मध्यवर्ती हैं।

[illegible]क्तियों और इन्द्रियों के पीछे गूढ़ रीति से छिपी हैं। [illegible]ी पाठ से प्रारम्भ करके हम ऐसे अभ्यासों उपदेशों [illegible] शृंखला देंगे कि जिनका उद्देश्य मन की शक्तियों का [illegible]त विकास होगा।

[illegible] पाठ में हम विशेष अभ्यासों को न देंगे, परन्तु अपने [illegible] के अवधान को उन साधारण नियमों की ओर आक- [illegible]करेंगे जो प्रत्यक्षीकरण के विकास की मुख्य भित्ति हैं।

प्रत्यक्षीकरण के साधारण नियम।

प्रत्यक्षीकरण की कला प्राप्त करने के लिये पहली बात [illegible]ग करने की यह है कि मनुष्य को किसी पेचीदा वस्तु के [illegible] को एक ही साथ प्रत्यक्ष करने का यत्न न करना चाहिये। [illegible] पदार्थ को खंड २ विचार करना चाहिये और तब [illegible]ा को एकत्र करके समग्र पदार्थ जाना जा सकता है। उदाहरण के लिये एक परिचित पदार्थ किसी मनुष्य की मुखाकृति को लीजिये। यदि आप समग्र चेहरे को एक साथ प्रत्यक्ष समझा चाहेंगे तो आपकी सफलता में किसी क़दर कमी होगी क्योंकि अंकन अस्पष्ट और धुंधले होंगे।

परन्तु यदि निरीक्षक उस चेहरे को खंड करके विचारेगा, तो पहले आँखें, तब नाक, तब मुँह, तब ठुड्ढी तब बाल, तब चेहरे का आकार, रंग आदि, तब उसे जान पड़ेगा कि उसने सारे चेहरे का साफ और स्पष्ट अंकन प्रत्यक्ष प्राप्त कर लिया है।

यही नियम किसी विषय या वस्तु में लग सकता है। एक दूसरा परिचित उदाहरण लीजिये। आप एक मकान का

निरीक्षण किया चाहते हैं। यदि आप सारे मकान का साधारण प्रत्यक्ष एक बारगी प्राप्त करेंगे, तो आप उसके विषय में साधारण आकार, सूरत, परिमाण और रंग आदि के अतिरिक्त और बातें बहुत ही कम स्मरण रख सकेंगे। उसका वर्णन आप के लिये नैराश्यजनक होगा। परन्तु यदि आप खंड २ स्मरण करते जायंगे कि किस सामग्री (ईंटा या पत्थर आदि) से मकान बना है, दरवाजों की सूरत, धूआंकश, छत, सामने का फाटक, आराइश, जेबाइश, परिमाण, खिड़कियों के शीशों की संख्या इत्यादि २ तो आप को उस मकान की अच्छी भावना प्राप्त हो जायगी, नहीं तो केवल साधारण ऐसी आभा होगी जो राह चलते पशु को भी हो सकती है।

हम इस पाठ को विख्यात वैज्ञानिक ऐगेसीज की कथा लिख कर समाप्त करेंगे कि, कैसे वह अपने शिष्यों को शिक्षा देता था। उसके शिष्य सूक्ष्म निरीक्षण और प्रत्यक्षण शक्तियों के लिये प्रख्यात थे और इसी लिये जिस वस्तु को देखे रहते उसके विषय में उनके विचार भी बहुत परिष्कृत और सच्चे होते। उसके शिष्यों में से अनेक बड़े २ उच्च पदों पर पहुँचे। इसका कारण यही सावधान शिक्षा थी।

कथा यों है कि एक नया शिष्य एक दिन ऐगेसीज के सम्मुख उपस्थित हुआ और काम में लगाया जाना चाहने लगा। विज्ञानी ने एक घड़े में से, जहां मछलियां पाली गई थीं, एक मछली निकाल और उसे नवयुवक शिष्य के सम्मुख रख कर बोला कि इस सावधानी से निरीक्षण करके इसके विषय में जो कुछ बातें तुम जान सको उनका विवरण देने के

लिये तैयार रहो। अब शिष्य और मछली अकेले रह गये। उस मछली के विषय में कोई रोचक बात न थी यह मछली भी उन्हीं अनेक मछलियों के सदृश थी जिन्हें वह पहले भी देख चुका था। शिष्य ने देखा कि इसके चोइयां और कांटे हैं मुँह और आंखें हैं, हां, पूंछ भी है। आधे घंटे में उसने सोचा कि इस मछली के विषय में जितनी बातें प्रत्यक्षण योग्य थीं उन सब को मैंने समझ लिया। परन्तु वैज्ञानिक तब तक भी कहीं अन्यत्र ही रहा।

समय बीतता गया और शिष्य को अन्य कोई कार्य न रहने से वह घबड़ाने और बेचैन सा होने लगा। वह गुरु की खोज में चला परन्तु उन्हें पा न सका, इस लिये वह लौट आया और फिर उसी मछली की ओर देखने लगा। कई घंटे बीत गये पर तौभी जितनी बातें वह पहले इसके विषय में जान सका था उतनी ही जानता रहा।

वह कुछ खाने पीने चला गया और जब लौटा तो फिर उसी मछली को देखना पड़ा। वह बेदिल और अधीर होने लगा और पछताने लगा कि हम क्यों ऐगेसीज के पास आये, जो एक मूर्ख बूढ़ा आदमी है और पुराने जमाने का है। तब समय बिताने के लिये वह चोइयों को गिनने लगा, इसके समाप्त होने पर उससे बाहरी काटों को गिना; फिर उस मछली का चित्र खींचना प्रारंभ किया। चित्र खींचने में उसके ख्याल में आया कि मछली की आखों पर पलकें तो है ही नहीं। उसको नई बात मालूम हुई। उसका गुरु भी कहा करता था कि चित्र खींचने में बड़ी २ बारीकियां सूझती हैं। थोड़े ही अर्से में गुरु आ गये और जांचा कि

शिष्य ने कौनसी बात प्रत्यक्ष की है और उदास हो कर चल दिये और कहा कि फिर देखो कदाचित अब कुछ देख सको।

इस बात से लड़का चौकन्ना हुआ और पेंसिल से उन २ बातों को लिखते जाने लगा जिन को वह उस मछली में पाता था, इस तरह कुछ और भी नई बातों को जान सका जो पहले उसकी दृष्टि में नहीं आई थीं। अब वह निरीक्षण के रहस्यों को समझने लगा। क्रमशः उस मछली के विषय में उसने कई नई बातों को जान लिया। परन्तु इससे भी उसका गुरु सन्तुष्ट न हुआ, उस शिष्य को तीन दिन तक उसी मछली के देखने में लगा रक्खा। इतने समय के पश्चात् वह शिष्य उस मछली के विषय में कुछ असली बातें जान सका और सब से अच्छा लाभ तो उसे यह हुआ कि सावधानी से बारीकियों के देखने की परिपाटी मिल गई।

बरसों बाद जब वह शिष्य उच्च पद पर पहुंचा तो उसने इस मछलीवाली घटना के विषय में कहा कि "वही हमारा सर्वोत्तम पाठ था। वह ऐसा पाठ था कि उसका प्रभाव हमारे सब पाठों पर पड़ा। गुरु ने हमें महा मंत्र दे दिया जैसे अन्यों को भी दिया, यह मंत्र अमूल्य था, इसके मूल्य देने की हम में शक्ति नहीं, इस मंत्र को हम कभी त्याग नहीं सकते।"

उस विशेष ज्ञान के मूल्य के अतिरिक्त जो शिष्य को प्राप्त हुआ, उसकी प्रत्यक्ष शक्तियां भी तीव्र हुईं जिनसे वह विषयों और चीजों की बारीकियों को ढूँढ़ २ कर जानने लगा और जो कुछ उसे विदित हुआ उससे बड़े महत्व की बातें अनुमान द्वारा निकालने लगा। मन ज्ञान का भूखा है और

इसने युगों के विकास और प्रयत्न द्वारा इस इन्द्रिय सम्प्रदायों की शृंखला को प्रगट किया कि उसे ज्ञान प्राप्त हो; और वह अब भी नये साधनों के प्रगट करने के उद्योग में है। सांसारिक उन पुरुष और स्त्रियों ने जो सफलता तक पहुँच गये हैं, ज्ञान के इन अद्भुत मार्गों का उपयोग किया है और इन्हें आकांक्षा और अवधान की रहनुमाई में रख कर अद्भुत २ फल प्राप्त किए हैं। ये प्रधान २ बातें हैं और हम अपने शिष्यों से अनुरोध करते हैं कि इन्हें आप अरोचक समझ कर छोड़ न जाइये। प्रत्यक्षीकरण और चौकन्नापन के भाव का उदय कीजिये और इससे जो ज्ञान प्राप्त होगा उसे देख आप ही अचरज करने लगेंगे।

ऐसे अभ्यासों और व्यवहारों से आप वर्तमान इन्द्रियों ही को नहीं विकसाते, किन्तु, आप उन गूढ़ शक्तियों और इन्द्रियों के जगाने में भी सहायता पहुंचा रहे हैं जो खिल उठने के लिये उत्सुक हैं। अपनी वर्तमान शक्तियों के व्यवहार और अभ्यास से हम उन शक्तियों के विकाश में सहायता पहुँचाते हैं जिनके आगमन का हम स्वप्न देख रहे हैं।

मंत्र।

मैं जीव हूं और बाहरी संसार से लगाव रखने के मार्ग हमारे पास हैं। हम इन मार्गों का व्यवहार करेंगे और इससे उस ज्ञान को प्राप्त करेंगे जो हमारे मानसिक विकास के लिये आवश्यक है। मैं अपने ज्ञानेन्द्रियों का व्यवहार और अभ्यास करूंगा क्योंकि मैं जानता हूं कि ऐसा करने से मैं अपनी और

भी उन उच्च ज्ञानेन्द्रियों को जगा सकूंगा जिनकी ये वर्तमान इन्द्रियां केवल आश्रित अग्रसर मात्र हैं। मैं चौकन्ना और खुला रहूंगा कि चारों ओर से ज्ञान का प्रवाह मुझ तक होता रहे। विश्व मेरा घर है, मैं उसे ढूँढ़ डालूंगा।

सातवां पाठ।

चेतना का विकास।

इस पाठ में हम मनुष्य के भीतर चेतना के विकास के विषय में आप से कहेंगे और इसके बाद वाले तथा उसके पश्चात् वाले पाठों में मन की दशाओं में जो चेतना के नीचे और ऊपर होती हैं, स्पष्ट व्याख्या आप के सम्मुख उपस्थित करेंगे। चेतना के ऊपर और नीचे की भूमिका बहुत ही आश्चर्यमय है और यह बहुत ही भ्रान्त रूप में समझी और वर्णन की गई है। इससे हम भिन्न २ मानसिक शक्तियों के विकास, चेतना के अन्तर्गत और चेतना से बहिर्भूत दोनों, तक पहुँच जायेंगे, और यह ग्रन्थ तीन और पाठों में समप्त किया जायगा जो इस विषय के आन्तरिक भाग का उद्घाटन करेंगे और ऐसे नियमों और उपदेशों को देंगे, जिनसे मनुष्य का अद्भुत विचारयंत्र विकसित होगा कि हमारे शिष्यों के लिये अत्यन्त रोचक और लाभदायक हो।

हम लोगों में से बहुत से मनुष्य चेतना और मन दोनों को एक समझते हैं, परन्तु हम ज्यों २ इस पुस्तक के पाठों में आगे बढ़ेंगे त्यों २ यह स्पष्ट विदित होगा कि चेतना मनुष्य के मन का बहुत छोटा भाग है, और वह छोटा भाग भी सर्वदा अपनी दशाओं को बदला करता और नयी २ उन दशाओं को प्रगट करता रहता है जो हमारे ख्याल में भी नहीं आई थीं।

मनोविज्ञान के विचार में हम लोग अधिकता से चेतना

शब्द का व्यवहार करते हैं । चेतना शब्द की परिभाषा नहीं हो सकती । किसी बात की परिभाषा को हम अन्य बातों की शब्दावली में वर्णन करते हैं । चेतना के सदृश संसार में अन्य कोई बात ही नहीं है, इस लिये इसकी परिभाषा को हम इसी क शब्दों में वर्णन कर सकते हैं जो 'सूर्य की टीका भास्कर' के समान है । चेतना एक बहुत ही बड़ा गूढ़ विषय है ।

चेतना वस्तुतः कौन सी वस्तु है, इसके समझने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिये कि वास्तव में मन क्या पदार्थ है, परन्तु यद्यपि इस रहस्य को समझाने के लिये अनेक विचित्र २ युक्तियाँ प्रगट की गई हैं पर तोभी इसके ज्ञान में त्रुटि बनी ही रही । पराविद्या के विद्वान् लोग इस विषय को स्पष्ट प्रकाश में न ला सके । अब रह गये पदार्थविद्या वाले; सो उन में से हक्सली साहब का कथन सुनिये । वे कहते हैं "जब नाड़ी कणों पर संघर्षण होता है तब कैसे चेतना सी अद्भुत दशा उत्पन्न हो जाती है, यह विषय उतना ही वर्णनातीत है जैसे अलादीन के अजीबोग़रीब चिराग़ के रगड़ने से भूत प्रेत का उत्पन्न हो जाना।"

बहुत से मनुष्यों के लिये "चेतना" और "मानसिक प्रक्रिया" तथा "विचार" ये शब्द पर्य्यायवाची हैं । थोड़े दिन पहले प्रायः सभी मनोविज्ञानी ऐसा ही समझते थे । परन्तु अब यह बात सर्व स्वीकृत हो गई है कि मानसिक प्रक्रियायें चेतना ही तक परिमित नहीं हैं और अब यह शिक्षा दी जाती है कि अनुद्बुद्धमानस (चेतना के नीचे) का क्षेत्र चेतनाक्षेत्र की अपेक्षा बहुत बड़ा है ।

केवल यही बात सत्य नहीं है कि एक समय में मन एक ही बात को चेतना में रख सकता है और इस लिये हमारे ज्ञान का बहुत ही छोटा भाग एक क्षण में चेतना में रह सकता है, किन्तु यह भी सत्य है कि चेतना मानसिक प्रक्रियाओं वा मनन में बहुत ही कम कार्य करती है। मन अपनी ही क्रियाओं के एक बड़े भाग से अभिज्ञ रहता है। माडसली साहब कहते हैं कि केवल दशांश भाग चेतना में आता है। टेन साहब कहते हैं कि "जितना संसार हमारी सत्ता के अन्तर्गत है उसके केवल उच्चतम भागों ही को हम प्रत्यक्ष करते हैं—महाद्वीप की केवल प्रकाशित चोटियों को ही देखते हैं और उनके निचले वृहत्तल अन्धेरे ही में पड़े रहते हैं।"

परन्तु इस अवसर पर हमारी इच्छा मन की इस अनुद्बुद्ध भूमिका के वर्णन करने की नहीं है, क्योंकि आगे चल कर इस विषय में हमें बहुत कुछ कहना है। यह बात यहां इस बात को दिखलाने के लिये कह दी गई है कि चेतना का विस्तार या उपचय उतनी वृद्धि नहीं है जितना विकाश है—नई सृष्टि या बाहर से जोड़ नहीं है, किन्तु भीतर ही से बाहर की ओर विकाश है।

जीवन के प्रारम्भ ही से—जड़ पदार्थों के कणों में—शंसन या वेदना तथा उसकी प्रतिक्रिया के चिन्ह प्रगट होने लगते हैं। लेखकों ने इस वृत्ति को वेदना या शक्ति नाम नहीं दिया, क्योंकि इन शब्दों से इन्द्रियों का द्योतन होता है। परन्तु अर्वाचीन विज्ञान ने अब इन नामों को भी दे दिया है जो अब तक रोक रक्खे गये थे। बहुत उच्च कोटि के वैज्ञानिक

लेखक इस कथन में नहीं हिचकते कि प्रतिक्रिया तथा रासायिनिक अनुयोग आदि में वेदना का अंकुर पाया जाता है। हेकेल साहब कहते हैं कि "जब २ हम सरल से सरल भी रासयिनिक तथा भौतिक क्रिया की कल्पना करते हैं तब तब भौतिक कणों की गति में भी अचेतन वेदना का द्योतन प्रतीत ही होता है। रासायिनिक प्रीति की भावना इसी बात में है कि भिन्न २ रासायिनिक तत्व अन्य तत्वों के गुण भेदों को पहचानते हैं और उनसे जुटने के सुख या दुःख का अनुभव करते और तदनुकूल ही अपनी विशेष गति को संचारित करते हैं।" वे जीवित देह के कणों की भी वेदन-क्षमता के विषय में कथन करते हैं कि इनमें उच्च कोटि की वेदन-शीलता है।

परमाणुओं के मध्य में जो रासायिनिक क्रिया होती है उसे रसायनी लोग वेदन-प्रतिक्रिया कहते हैं। वेदनशीलता जड़ पदार्थों में भी पाई जाती है और इसे विचार का मौलिक आभास कह सकते हैं। विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है जब कि वह कणों की अचेतन वेदनाओं को (aethesis) वेदन और अचेतन आकांक्षा को, जो वेदन की अनुवर्तिनी होती है (Tropesis) वृत्ति कहता है।

जब तक हम परमाणुओं में शंसन या मनोवेदना का आरोप न करें तब तक रासायिनिक प्रीति स्पष्ट और सुबोध भावना असम्भव है। उसी भांति हम कणों की क्रिया को कदापि नहीं समझ सकते यदि उन्हें हम शंसन या मनोवेदना से युक्त न समझें। आकर्षण का नियम भौतिक पदार्थों की मानसिक अवस्था पर अवलम्बित है। विद्युतशक्ति या चुम्बक

शक्ति के प्रयोग से जड़ पदार्थों में जो प्रतिक्रिया होती है वह मनोवेदना और उसकी प्रतिक्रिया का दूसरा प्रमाण है।

रासायिनिक कलमों और रवाओं की गति और क्रियाओं में हम और भी उच्च कोटि की वेदना और प्रतिक्रिया के प्रमाण पाते हैं। स्फटिकीभवन Crystallization की क्रिया नीच कोटि की मांसक्रिया से बहुत कुछ मिलती जुलती होती है। रासायिनिक कलमों और वनस्पति के जीवन की मध्यवर्तिनी कड़ी विज्ञान के अर्वाचीन आविष्कारों में पाई गई कही जाती है। यह सम्बन्ध इस प्रकार मिला है कि वनस्पतियों के भीतरी अंग में कुछ ऐसी कलमें पाई जाती हैं जो कार्बन के संयोग से बनी हुई हैं और भौतिक रवाओं की समता रखती हैं।

कलमें निश्चित तरीकों से और निश्चित रूपों में एक निश्चित परिमाण तक बनती जाती हैं। तब उनसे उनकी सतहों पर बच्चा कलमें बनने लगती हैं और और उसी प्रकार वृद्धि करती हैं जैसे देहाणु वृद्धि करते हैं। रासायिनिक पदार्थों में भी खमीर-क्रिया के सदृश क्रिया देखने में आती है। रासायिनिक पदार्थों और कणों में अनेक रूप से मानसिक जीवन का प्रारम्भ दिखाई देता है। कणों से तो भौतिक और सजीव दोनों पदार्थ बनते हैं।

जीवन के सोपान में हम ज्यों २ ऊपर चढ़ते हैं त्यों त्यों क्रमशः बढ़ती हुई मानसिक क्रियाएं दृष्टि गोचर होती हैं, सरल विकास के स्थान को पेचीदा विकास ग्रहण करते जाते हैं। एक देहाणुवाले जीवों के सरल जीवन को छोड़ कर देहाणु जीवनके उच्च रूपों में हम बढ़ती ही हुई शासन-क्षमता या

मनोवेदना पाते हैं। अब देहाणु समूहों पर आइये जिनमें प्रत्येक देहाणु एक प्रकार के शंसन द्योतन करते हैं। साथ ही साथ समूह शंसन या समूह मनोवेदना भी द्योतन करते हैं। भोजन पहचाना, पसन्द किया और ग्रहण किया जाता है और उसकी खोज में गति की जाती है। यह जीवित वस्तु अधिक पेचीदा मानसिक क्रियाओं का द्योतन करना प्रारम्भ करती है। तब नीच कोटि के पौधों का जीवन आता है और हम उस भूमिका के भिन्न दृश्यों को देखते हैं जिनमें और भी अधिक बढ़ी हुई शंसन क्षमता पाई जाती है, यद्यपि उनमें किसी विशेष ज्ञानेन्द्रिय के लक्षण नहीं दिखाई देते हैं। तब हम उच्च कोटि के बनस्पति जीवन में पहुँचते हैं जिनमें कुछ मनोवेदनाशील देहाणु या ऐसे देहाणुओं के समूह प्रगट होना शुरू होते हैं जो प्रारम्भिक ज्ञानेन्द्रिय हैं। तब जन्तु-जीवन के रूप आते हैं जिनमें वेदनाओं की मात्रा बढ़ने लगती है और वेदनयंत्र या ज्ञानेन्द्रिय भी उन्नत होने लगती हैं और क्रमशः नाड़ी सम्प्रदाय का विकास होने लगता है।

नीच जन्तु-रूपों में भिन्न २ श्रेणी के मनन और सहचारी नाड़ी-केन्द्र और इन्द्रियां होती हैं परन्तु चेतना नहीं होती, क्रमशः ऊपर जाने पर रेंगनेवाले जन्तुओं की कोटि में चेतना का थोड़ा २ प्रादुर्भाव होने लगता है, और इससे अधिक ऊंची कोटि में अधिक चेतना और सुबोध विचार की थोड़ी मात्रा होती है, क्रमशः इसी प्रकार ऊंचे चढ़ते २ हम उच्च दूध पीने-वाले जानवरों की कोटि में पहुँचते हैं, जैसे घोड़ा, कुत्ता, हाथी,

बन्दर आदि जिन जानवरों में पेचीदा नाड़ी सम्प्रदाय, मस्तिष्क और सुविकसित चेतना होती है। चेतना की श्रेणी के नीचे के जन्तुओं के जीवन के रूपों में मनन विषय के विचार की हमें आवश्यकता नहीं है क्योंकि इससे हम अपने विषय से दूर चले जायँगे।

उच्च कोटि के जन्तु-जीवन में उदयावस्था या अर्द्ध-चेतना के पश्चात् हम उन नीच जानवरों के जीवन के रूपों में आते हैं जिनमें सुविकसित मात्रा मानसिक क्रिया और चेतना की होती है, जिसे मनोविज्ञानी लोग सरल चेतना कहते हैं, परन्तु इस शब्द को हम अत्यन्त अनिश्चित कहते हैं और इसके स्थान में हम दैहिक चेतना का शब्द प्रयोग करेंगे जो उस वस्तु की खासी भावना को द्योतित करता है। हम "दैहिक" शब्द को दो अर्थों अर्थात् "बाह्य" और "जीव की भौतिक बनावट सम्बन्धी" दोनों अर्थों में प्रयोग करते हैं। और दैहिक चेतना ठीक ऐसी ही वस्तु है—मानसिक चेतना या बाह्य संसार की उसी मात्रा तक्तु पशुतनता जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती है, और जानवर के श मनुष्य चेतनता। वह जानवर या मनुष्य, जो दैहिक चेतनतीर वह मिका में विचार कर रहा है (सब उच्च पशु ऐसा व ओ से जोड़र अनेक मनुष्य भी इससे ऊँचे बढ़े नहीं प्रतीत होते न द्व को क्को भौतिक शरीर ही समझता है और केवल श और यह वाह्य विचारों की चेतनता रखता है। वह "जा है" परन्तु है अंतु मानसिक क्रियाओं और मन के अस्तित्व अचेतन होने को के के कारण वह नहीं जानता कि "मैं जान । इस प्रक ष, कीर की चेतना यद्यपि मनोवेदना की अचेत मिका से बहुत है, । ऊँचे हैं, तौभी हमारे काल के उच्च

विकसित बुद्धिमान मनुष्य की चेतना की अपेक्षा एक भिन्न ही संसार विचार का है ।

नीच पशुओं और जंगली मनुष्यों की दैहिक चेतना की भावना करना मनुष्य के लिये कठिन बात है, विशेष करके उस दशा में जब कि सिवाय चेतन होने के वह अपनी चेतना को समझना कठिन क्रिया पाता है । परन्तु निरीक्षण और तर्क से हमें खासी समझ होगई है कि यह जानवरों की दैहिक चेतना किस प्रकार की है और कम से कम इतना कि किस विषय में वह हमारी चेतना से भिन्न है । एक परिचित उदा-हरण लीजिये । वह घोड़ा जो सर्दी और वृष्टि में बाहर खड़ा है असुख का अनुभव करता है और सम्भव है कि दुःख भी अनुभव करता हो क्योंकि निरीक्षण द्वारा हमें मालूम होता है कि जानवर दोनों का अनुभव करते हैं । परन्तु वह अपनी मानसिक दशाओं का विश्लेषण नहीं कर [illegible] ता और न यही सोच सकता कि कब हमारा मालिक आवे न्द्रिय [illegible] ा हमें अस्तबल से बाहर रखना कैसी क्रूरता है, कल्ह य का [illegible] र इसी भांति सर्दी में रक्खे जायँगे कि नहीं, देखो दू क मनन [illegible] कैसे मजे में भीतर बँधे हैं, क्यों हमें ठंढी रातों में न्तु चेतना [illegible] इत्यादि २ । संक्षेप में यह बात है कि तुओं की कोटि [illegible] ता है। सोच सकता जैसे एक तार्किक मनुष्य इ और इससे अधिक [illegible], और यह मनुष्य के समान असुख का तो अ विचार की थोड़ी [illegible] जाने वह मनुष्य ही की भाँति दौड़ कर घर हते २ हम उच्च दूध प [illegible] और पाता । परन्तु वह अपनी दशा पर शोक ैं, जैसे घोड़ा, कुत्ता, हा [illegible] यही न अपने व्यक्तित्व पर मनुष्य की भाँति

ख्याल करता है कि ऐसा जीवन जीने योग्य है कि नहीं। वह जानता है पर अपने को जानकार नहीं ख्याल कर सकता, वह नहीं जानता कि "मैं जानता हूँ", जैसा कि हम मनुष्य लोग जानते हैं। वह शारीरिक दुःख और असुख का अनुभव करता है परन्तु इस शारीरिक से जो मानसिक असुख और चिन्ता मनुष्य को उत्पन्न होती है, उससे बरी है।

जानवर बाह्य संसार की वेदनाओं से उत्पन्न चेतना को अपनी सत्ता की भीतरी दशाओं में नहीं ले जा सकता। वह अपने को जानने में असमर्थ है। इस अन्तर को उस मनुष्य के उदाहरण से दिखा सकते हैं, यद्यपि भद्दी रीति से, जो उस वस्तु का अनुभव दर्शन और श्रवण कर सकता है जो सुख या दुख की वेदना पहुँचाती है। वह अनुभव या वेदना का तो सचेतन है और इस बात का भी कि वह वेदना सुखमय या दुःखम[illegible] है। यही दैहिक चेतना है और यही पशुओं में हुआ करती [illegible] परन्तु पशुओं में बस इतनी ही चेतना होती ही है। इस[illegible] मनुष्य यह सोच सकता है कि क्या यह वेदना सुख[illegible] और वह इस वेदना के सम्पर्क को दूसरी चीजों [illegible]से जोड़ सकता है, या यह सोच सकता है कि [illegible] को क्यों नापसन्द करते हैं, इसके पश्चात क्या [illegible] यह मानसिक चेतना है, क्योंकि वह भीतरी [illegible] है और अपने अवधान को भीतर ले जाता है, [illegible] को देखकर उसकी ओर खिंचाव या उससे [illegible]ष, की भावना को अनुभव कर सकता है। [illegible] है, और पशु भी ऐसी वेदना का अनुभव

कर सकता है । परन्तु मनुष्य पशु की अपेक्षा आगे बढ़ जाता है और सोचता है कि उस मनुष्य में कौन सी बात है कि जिससे मैं उसे चाहता या उससे हटता हूं, या वह अपनी तुलना उस मनुष्य से कर सकता है कि नहीं जैसा मैं समझता हूँ इत्यादि यह मानसिक चेतना है ।

पशुओं में मानसिक दृष्टि बाहर की ओर होती है और कभी अपनी ओर नहीं आती । मनुष्य में मानसिक दृष्टि भीतर की ओर भी फेरी जा सकती है या बाहर की यात्रा करने पर भीतर भी आ सकती है । पशु जानता है, मनुष्य केवल जानता ही नहीं किन्तु जानता है कि "मैं जानता हूं" और उस जानकारी की जाँच और उसके विषय में सोच विचार कर सकता है । हम इस उच्च चेतना को मानसिक चेतना कहते हैं । दैहिक चेतना को हम प्रवृत्तिमानस कहते हैं; मानसिक चेतना को हम बुद्धि कहते हैं ।

जिस मनुष्य के पास मानसिक चेतना है वह केवल अनुभव ही नहीं करता, किन्तु इन अनुभवों और वेदनाओं के अनुकूल शब्द और मानसिक भावना भी रखता है और अपने को इनका अनुभवकर्ता समझता है, अपने को, वेदना या अनुभव को, और उस अनुभूत या वेदित वस्तु को पृथक २ समझता है । मनुष्य ऐसा सोच सकता है कि "मैं अनुभव करता हूं, मैं सुनता हूं, मैं देखता हूं, मैं चखता हूं, मैं चाहता हूं, मैं करता हूं इत्यादि । ये शब्द ही मानसिक चेतना द्योतित करते हैं जिनमें मानसिक दशाओं की भावना है, उनके पृथक् २ नाम हैं, इनमें उस पदार्थ की भी भावना है जो "मैं" कहा

जाता है और जो वेदनाओं का अनुभव करने वाला है। इस पिछली बात के कारण मनोविज्ञानी लोग इस श्रेणी को "स्व-चेतना" कहते हैं परन्तु हम इस "अहम्" चेतना की भावना को ऊंची श्रेणी के लिये रख छोड़ते हैं।

पशु उस अनिश्चित किसी वस्तु का अनुभव करता है जो उसे उन अंकनों या वेदनाओं को देती है जिन्हें हम दुःख चोट, सुख, मीठा कड़ुआ आदि कहते हैं। ये सब वेदनाएँ हैं पर पशु इन वेदनाओं को शब्दों में नहीं सोच सकता। दुःख को वह अपना ही अंग समझता है, यद्यपि सम्भव है कि उसे वह उस मनुष्य से भी जोड़ देता हो जिसने उसे दुःख पहुँचाया हो। किसी छोटे बच्चे में चेतना के विकास के अध्ययन से श्रेणियों और भेदों की भावना शब्दों के पढ़ने की अपेक्षा बेहतर प्राप्त हो सकती है।

मानसिक चेतना एक वृद्धि है। हेकेल साहब कहते हैं कि बहुत से मनुष्य मानसिक भावनाओं के विषय में एक धुँधले आभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं रखते। वे इन्हीं को ठीक मान लेते हैं और कभी अपनी दृष्टि भीतर की ओर नहीं डालते।" इस विषय में सन्देह किया गया है कि जंगली मनुष्यों में स्वचेतना होती है कि नहीं और हमारी जाति के भी अनेक मनुष्य बुद्धि और चेतना के विषय में पशुओं से थोड़े ही ऊपर हैं। वे अपने को थोड़ा भी जानते हुए नहीं प्रतीत होते। उनके लिये "मैं" खालिस शारीरिक पदार्थ है—एक देह जिसमें ख्वाहिशों और वेदनाओं के सिवाय और कुछ नहीं है। वे किसी क्रिया का अनुभव करते हैं पर उसके

परे कुछ नहीं। वे अपने को इस कदर देह समझे हुए हैं कि वे अपनी देह में किसी वस्तु को "अहम्" से भिन्न कर अहम् से पृथक् नहीं समझ सकते। उनकी दृष्टि में "अहम्" और शरीर एक ही वस्तु है और इनमें वे फरक देख ही नहीं सकते।

अब वह श्रेणी आती है जिसमें वास्तविक मानसिक चेतना प्रारम्भ होती है। मनुष्य अनुभव करने लगता है कि मेरे भीतर मन है। वह अपने को मानसिक सत्ता समझने लगता है और दृष्टि को थोड़ा भीतर की ओर भी फेरता है। विकास की यह अवस्था बच्चों में खूब देखी जा सकती है। कुछ समय तक तो वे अपने को अन्य पुरुष समझते हैं और तब अन्त में जा कर वे "मैं" कहने लगते हैं। फिर थोड़े दिन के बाद उनमें अपनी मानसिक दशाओं के जानने की योग्यता आती है--वे जान जाते हैं कि हमारे मन है और वे मन और देह के फरक को भी जान जाते हैं। यह कहा गया है कि बाज २ लड़के जब इस श्रेणी में प्रवेश करने लगते हैं तो वे भय की भावना का अनुभव करते हैं। वे लज्जालुता का चिन्ह द्योतन करने लगते हैं जिसे उस भाव में स्वचेतना कहते हैं। बाजे २ पीछे बरसों बाद कहने लगते हैं कि जब मैं अपने आपे का सचेतन होने लगा तो मुझे बहुत भय मालूम हुआ कि मैं संसार से पृथक् हो कर अकेले में जा रहा हूँ।" छोटे बच्चे कई वर्ष तक ऐसा अनुभव करते हैं। एक स्पष्ट ऐसी भावना प्रतीत होती है कि संसार हमसे पृथक् और विपरीत भाव में है।

और यद्यपि पृथकता की यह भावना ज्यों २ मनुष्य

वय में बढ़ता जाता है त्यों २ कम होती जाती है, तौभी यह थोड़ी बहुत वर्तमान रहती है जब तक मनुष्य और भी ऊँची श्रेणी में नहीं पहुँचता अर्थात् जब तक मनुष्य "अहम्" चेतना में नहीं पहुँचता। जब मनुष्य अहम् चेतना में पहुँच जाता है तो पृथकता की यह भावना तिरोहित हो जाती है जैसा आगे चल कर देखने में आवेगा। यह मानसिक चेतना की श्रेणी बहुतों के लिये कठिन है। वे मानसिक वृत्तियों के जाल में फँसे रहते हैं जिन्हें मनुष्य "आपा" समझता है, वास्तविक "अहम्" और उसके घेरनेवाले आवरणों में जो कशमकश होती है वह बहुत ही कष्टकर होती है। ज्यों २ अन्त निकट आता जाता है त्यों २ यह कष्ट बढ़ता ही जाता है, क्योंकि ज्यों २ मनुष्य मानसिक चेतना और ज्ञान में उन्नति करता है त्यों त्यों, वह अधिक २ और अधिक वेदनाशील होता जाता है। मनुष्य ज्ञानवृक्ष के फल को खाने लगता है और कष्ट भोगने लगता है और उन बालकों तथा आदिम जातियों की स्वर्ग-वाटिका से निकाला जाता है, जो गगनविहारी पक्षियों की भांति सुख से जीवन व्यतीत करते थे और जिन्हें मानसिक दशाओं और प्रश्नों की चिन्ता न थी। परन्तु उच्च चेतना के रूप में मुक्ति आगे खड़ी रहती है, जिसे बहुत कम लोग पहचानते और उससे भी थोड़े लोग उसे प्राप्त करते हैं। सम्भव है कि इस पाठ से आप उसकी प्राप्ति का मार्ग पा जायँ।

इस मानसिक चेतना के साथ ही साथ यह ज्ञान आता है कि दूसरों में भी मन होता है। मनुष्य दूसरे मनुष्यों की मानसिक दशाओं के विषय में तर्क और सोच विचार करने

लगता है क्योंकि वह अपने ही भीतर इन अवस्थाओं को अनुभव करता है। ज्यों २ मनुष्य मानसिक चेतना में आगे बढ़ता है त्यों २ वह बुद्धि की अधिक २ मात्रा और उच्च २ श्रेणी विकसाने लगता है और तदनुकूल अपनी सत्ता के उस भाग पर अधिक २ महत्व आरोपित करता है। बाजे २ मनुष्य तो बुद्धि ही को ईश्वर समझ कर पूजते हैं, और बुद्धि की उन परिमितियों को भूल जाते हैं जिन्हें अन्य विचारशील देखते हैं। ऐसे मनुष्य यह तर्क करते हैं कि चूंकि मनुष्य की बुद्धि (अपने विकास की इस वर्तमान स्थिति में) यह सूचना देती है कि अमुक वस्तु अवश्य होगी या उसका होना असम्भव है इसलिये यह बात ठीक ऐसी ही निश्चित होगई। वे इस बात का ख्याल नहीं करते कि मनुष्य की बुद्धि के लिये यह भी सम्भव है कि इस वर्तमान विकास में विश्व की बात के बहुत छोटे ही अंश को धारण करे, और सम्भव है कि लोक के ऊपर लोक और उस सत्यता और बात के हों, जिनकी खबर भी उसे न हो, क्योंकि वे इसके अनुभव से बहुत दूरी पर हैं। एक नई इन्द्रिय के विकास से एक नयी दुनिया खुल सकती है और ऐसी २ बातें प्रगट हो सकती हैं जो हमारी भावनाओं के समस्त संसार में, नये ज्ञान के प्रकाश से, हलचल मचा सकती हैं।

परन्तु तौभी इसी मानसिक चेतना से यह अद्‌भुत बुद्धि का कार्य प्रगट हुआ है, जैसा कि अब तक मनुष्य की बड़ी कीर्तियों से विदित होता है, और यद्यपि हमें बुद्धि की परिमितियों से अभिज्ञ होना चाहिये तो भी इसकी स्तुति के गान

में प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित होना चाहिये। बुद्धि वह औजार है जिसके द्वारा मनुष्य वस्तुस्थिति की खान को खोदता है और प्रति दिन नई २ निधियाँ खोद निकालता और प्रकाश में लाता है। मानसिक चेतना की यह श्रेणी मनुष्य को उसके विषय में और विश्व के विषय में ऐसा ज्ञान देती है जो उसके परिश्रम का समुचित उत्तम फल है। इस कक्षा में प्रवेश करने के लिये मनुष्य को मूल्य देना पड़ता है, और ज्यों२ वह इस क्षेत्र में आगे बढ़ता है त्यों २ इसे और भी कड़ा मूल्य देना पड़ता है. क्योंकि वह जितना ही ऊंचे चढ़ता जाता है उतना ही अधिक वेदनशील होकर दुःख सहता और सुख भोगता है। सिद्धि की प्राप्ति के लिये मनुष्य को एक निश्चित सीमा तक कष्टवेदनशीलता रूपी मूल्य देना पड़ता है। उसका कष्ट दैहिक से मानसिक चेतना में जाता है और वह ऐसे २ प्रश्नों से अभिज्ञ होता है जिनका उसे ख्याल भी न था और उन प्रश्नों का सुबोध ऊत्तर न पाने से उसे मानसिक पीड़ा उत्पन्न होती है और अपूर्ण इच्छाओं के कारण उसे जो मानसिक पीड़ाएं निराशा और प्रियतमों के कष्ट पर अनुकम्पा आदि होती हैं। ये मानसिक पीड़ाएँ शारीरिक पीड़ाओं से कहीं प्रबल होती हैं।

पशु अपना पशुजीवन जीता है और सन्तुष्ट रहता है क्योंकि उस जीवन से बेहतर जीवन की उसे भावना ही नहीं है। यदि उसे पुष्कल भोजन मिल गया, सोने के लिये स्थान मिल गया और एक जोड़ा मिल गया, बस वह सुखी है। कुछ मनुष्य भी ऐसे ही होते हैं। परन्तु ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो अपने को मानसिक असुखों के झमेले में पाते हैं। नयी २

ज़रूरियात उठ खड़ी होती हैं जिन की पूर्ति न होने से दुःख होता है। सभ्यता अधिक अधिक पेचीदा होती जाती है और अपने नये दुःखों और सुखों को लाती है। मनुष्य वस्तुओं से प्रीति करने लगता है और प्रतिदिन अपने लिये नयी हाजतें उत्पन्न करता है जिन्हें पूरा करने के लिये उसे परिश्रम करना पड़ता है। उसकी बुद्धि उसे चाहे ऊपर न ले जाय पर वह उसे नये २ और बारीक २ ऐसे साधन और पथ सुझाती रहती है जिससे वह अपनी इन्द्रियों को इतना तुष्ट करने में लगा रहता है जितना पशुओं के लिये असम्भव है। बाजे२ मनुष्य अपनी भोग-कामना को तृप्त करना ही अपना धर्म कर्म समझते हैं और अपनी बुद्धि द्वारा कई गुना बढ़ाये हुए पशु हो जाते हैं। कुछ लोग अपने व्यक्तित्व (झूठे "अहम्") के महत्व पर इतने अभिमानी और घमंडी हो जाते हैं कि फूले नहीं समाते। कुछ लोग बुरी तरह से अन्तर्दर्शी होते हैं जो अपनी वृत्तियों, उद्देश्यों, भावनाओं आदि के विश्लेषण और चिन्तन में लगे रहते हैं। कुछ लोग सुख और आमोद-प्रमोद की अपनी सारी शक्ति को खर्च कर डालते हैं और अपने भीतर ढूँढ़ने के स्थान पर बाहर ढूँढ़ते रहने से उदास, चिन्तित, बेचैन और अपने लिये आपही पीड़ास्वरूप रहते हैं। हम इन बातों को दुःखदर्शी विरागी की दृष्टि से नहीं कहते, परन्तु इस बात को दर्शाने के लिये कहते हैं कि इस महती मानसिक चेतना के भी बुरे और भले दोनों पटल होते हैं।

जब मनुष्य इस मानसिक चेतना की और भी ऊंची कक्षाओं में चढ़ता है और उससे भी ऊंची कक्षा का उदय

उसके ऊपर होने लगता है तो वह और भी तीव्रता से जीवन की उन त्रुटियों की वेदना को भोगने लगता है, जो उसे आभासित होती हैं। वह अपने को समझने में असमर्थ हो जाता है। वह अपनी उत्पत्ति, अपना भविष्य, अपना उद्देश्य, अपनी प्रकृति, कुछ नहीं समझ पाता, और वह अपनी बुद्धि के पिंजड़े के भीतर तलमलाया और तड़फड़ाया करता है। वह अपने ही आप प्रश्न करता है कि "हम कहाँ से आये हैं? कहां जायँगे, हमारे अस्तित्व का उद्देश्य क्या है?" दुनिया जो इन प्रश्नों का उसे उत्तर देती है, उससे उसे सन्तोष नहीं होता और वह निराश होकर रोने चिल्लाने लगता है, और अन्त में उसे अपनी ही वाणी द्वारा उन अभेद्य दीवारों को फोड़ कर उत्तर मिलता है, जो उसे आवेष्टित किये हैं। वह नहीं जानता कि उसका उत्तर उसी के भीतर से मिलेगा, परन्तु ऐसा ही होता है।

मनोविज्ञान, इसी स्थान पर जहाँ मनुष्य मानसिक चेतना की सीमा तक पहुँचता है, समाप्त हो जाता है। वह कहता है कि अब इसके आगे कुछ नहीं है, अब मन के मैदान में कोई बिना ढूँढ़ा क्षेत्र नहीं रह गया। वह उन लोगों के कथन पर हँसता है, जो अपनी सत्ता के बहुत ऊंचे शिखरों तक चढ़ गये हैं। वह उनके कथनों को "स्वप्न", "पागलपन" "भ्रम", "आनन्द कल्पनाएं" "अप्राकृतिक अवस्थाएं" कह कर त्याग देता है। परन्तु ऐसे भी विचारों के दर्शन हैं जो इन उच्च अवस्थाओं की शिक्षा देते हैं और सब युगों और जातियों में ऐसे मनुष्य हुए हैं और हैं जो इन अवस्थाओं

तक पहुँच गये हैं और उनके विषय में सन्देश देते हैं। हमें उचित बोध होता है कि आप से उनको विचारने के लिये निवेदन करें।

इस मानसिक चेतना की ऊपर की भूमिकाओं में से पहली भूमिका "अहम्" चेतना है जो "अहम्" की वास्तविकता से अभिज्ञ कराती है। यह अभिज्ञता उस मानसिक चेतना से बहुत ऊंचे है जो "हम" और "तुम" में भेद देखती है और पृथक २ नाम देती है। और यह अभिज्ञता वा चेतना उस चेतना से भी बहुत ऊंचे हैं, जो मनुष्य को, ज्यों २ वह सोपान पर ऊपर चढ़ता है त्यों २ "अहम्" को मानसिक वृत्ति के ऊपर वृत्ति, या शक्ति के ऊपर शक्ति से, यह कह कर कि "मैं" यह नहीं हूँ, यह भी नहीं हूँ, भिन्न देखने के समर्थ बनाती है जब तक कि मनुष्य के पास एक ऐसी वर्णनातीत वस्तु नहीं रह जाती जिसे वह पृथक नहीं कर सकता और जिसे वह "अहम्" कहता है। यद्यपि यह कक्षा मनुष्य जाति की साधारण कक्षा से बहुत ऊँची है और ऊँची सिद्धि की प्राप्ति है तौभी वह कक्षा इसीके मेल की होती हुई इससे भी ऊँची और इससे भी अधिक परिपूर्ण है। "अहम्" चेतना के उदय में "अहम्" अपने को और भी स्पष्ट पहँचानता है और इससे भी अधिक अपनी वास्तविकता का अभिज्ञ होता है जिसको वह पहले नहीं जानता था।

यह अभिज्ञता तर्क का विषय नहीं है, यह चेतना है। जैसे दैहिक चेतना और मानसिक चेतना बुद्धिजनित विश्वास से भिन्न थी। यह जानकारी है न कि विचार या विश्वास।

"अहम्" जानता है कि मैं सत्य हूँ—मेरा मूल उस परम सत्य में है जो सारे विश्व का मूल है और उसीकी सत्ता का अंश है। वह यह नहीं जानता कि यह सत्यता क्या है, पर यह जानता है कि मैं सत्य हूँ और संसार की प्रत्येक वस्तु से, जिसके नाम, रूप, संख्या, काल, देश, कारण और कार्य हैं, पृथक् हूं। वह जानता है कि मैं अतीतात्मक और मानव अनुभवों के परे हूँ। इसको जान कर वह जानता है कि मैं अविनाशी और अक्षर हूँ, मैं मर नहीं सकता और अमर हूँ, मेरे पीछे, मेरे नीचे, और स्वयम् मुझमें कुछ ऐसी वस्तु है जो भलाई का सार है। और इसी चेतना या निश्चय में शान्ति, ज्ञान और शक्ति है। जब यह चेतना किसी मनुष्य पर फूट पड़ती है तो संशय, भय, बेचैनी और असन्तोष उस मनुष्य से इस प्रकार झड़ पड़ते हैं जैसे पुराने वस्त्र और वह अपने को ज्ञानमय विश्वास, निर्भयता, शान्ति और सन्तोष से आच्छादित पाता है। तब वह समझ बूझ कर अर्थ सहित यह कह सकता है कि "मैं हूँ"।

यह "अहम्" चेतना बहुतों को उदय होते हुए ज्ञान की भाँति आती है—प्रकाश पहाड़ी के पीछे से उठता हुआ आ रहा है। अन्यों तक वह क्रमशः और शनैः २ परन्तु पूर्ण रीति से आयी है और वे अब चेतना के पूर्ण प्रकाश में जीते हैं। अन्यों को वह ज्योति के रूप में मिली है, मानो स्वच्छ आकाश से प्रकाश टूट पड़ा है जिससे पहले तो वे अन्ध से हो जाते हैं, फिर ऐसे बदल जाते हैं कि उनके पास वह वस्तु हो जाती है, जिसे साधारण मनुष्य, जिन्होंने इसका अनुभव नहीं किया

है, समझाने से भी नहीं समझते । इस अन्तिम श्रेणी को 'ज्योतिप्रकाश' कहते हैं ।

"अहम्" चेतनावाला मनुष्य, सम्भव है कि, विश्व की पहेली को न समझ सके या जीवन के महत प्रश्नों का उत्तर न दे सके। पर वह अब इन बातों की झंझट में नहीं पड़ता, ये बातें अब उसे दुःख नहीं दे सकतीं । वह अपनी बुद्धि को पहले की भाँति इन विषयों पर लगा सकता है, परन्तु इस भावना से नहीं कि इनके हल होने पर उसका सुख और उसकी शान्ति अवलम्बित है । वह जानता है कि मैं दृढ़ चट्टान पर खड़ा हूँ और यद्यपि द्रव्य और शक्ति के तूफान मुझसे टकरा सकते हैं, पर मेरी हानि नहीं हो सकती । इस और अन्य बातों को वह समझता है । इन बातों को वह, सम्भव है कि, अन्योंपर प्रमाणित न कर सके, क्योंकि ये बातें प्रमाणों द्वारा प्रतिपाद्य नहीं हैं। उसने इन बातों के ज्ञान को स्वयम् भी प्रमाणों द्वारा नहीं पाया है । इस लिये वह इन बातों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता और इस प्रकार जीवन जीता है कि जहां तक बाहरी दिखावे से सम्बन्ध है वह इन बातों को जानता ही नहीं । परन्तु भीतर ही भीतर अब वह बदला हुआ मनुष्य है, उसका जीवन उसके भाइयों के जीवन से भिन्न है, क्योंकि जब उनके जीव निद्रा से अभिभूत या स्वप्नों में दुःखित हो रहे हैं, तब उसका जीव जाग रहा है और चमकीली तथा निर्भय आंखों से संसार को देख रहा है । इसमें सन्देह नहीं कि इस चेतना की भिन्न २ श्रेणियाँ होती हैं जैसे नीचे की चेतनाओं की हुआ करती हैं । कुछ लोग इस हलकी श्रेणी की

चेतना को रखते हैं और कुछ लोग पूरी २ रखते हैं। सम्भव है कि यह पाठ अपने पाठकों में से कुछ को उस बात को बतला दे कि जो उन पर घटित हुई है और जिसे वे अपने घने से घने मित्र और जीवनसंघाती से भी कहने में संकोच करते हैं। अन्यों के लिये यह पाठ और भी पूरे अनुभव का मार्ग खोल सकता है। हम सच्चे दिल से ऐसी आशा करते हैं, क्योंकि जब तक मनुष्य "अहम्" की सत्यता को नहीं जानता तब तक वह वस्तुतः जीना प्रारम्भ ही नहीं करता।

इस श्रेणी से भी ऊपर एक श्रेणी है, पर वह बहुत ही कम मनुष्यों को प्राप्त हुई है। उसके सन्देश सब युगों, जातियों और देशों के मनुष्यों से मिले हैं। उसको विश्वचेतना कहते हैं, और उसके विषय में कहा गया है कि उसमें जीवन की एकता की अभिज्ञता होती है अर्थात् ऐसी चेतना होती है कि सारा विश्व एक ही जीवन से भरा हुआ है। यह विश्वजीवन, गति और मन से भरा हुआ है। इसका वास्तविक प्रत्यक्ष और चेतना हो जाती है, और यह भी चेतना होती है कि कहीं भी अन्धा बल, या जड़ द्रव्य नहीं है, सब जीवित, लहरें देता और बोधमय है। यह वह वास्तविक विश्व है जो द्रव्यशक्ति और मन के विश्व का मूल आधार कहा गया है। असल में इन लोगों का वर्णन, जिन्होंने इस दशा की झांकी प्राप्त की है, इस बात का द्योतन करता है कि वे विश्व को आत्मसय देखते हैं कि अन्त में सब आत्मा ही है। इस रूप की चेतना कहीं २ मनुष्य द्वारा प्राप्त हुई है, सो भी ज्योतिप्रकाश की दशा में, जो दशा बहुत ही थोड़े समय तक रहती है और तब स्मृति

मात्र छोड़ कर विलीन हो जाती है। ज्योतिप्रकाश की दशा में मनुष्य की विश्व के ज्ञान तथा जीवन की एकता की वह चेतना हो जाती है, जिसका वर्णन करना असम्भव है और उसमें वह परमानन्द प्राप्त होता है कि जो समझ के बाहर है।

इस अन्तिम विश्वचेतना के विषय में हम कहेंगे कि यह बुद्धिजात विश्वास से कहीं बढ़ कर चेतना है जो ज्योतिप्रकाश के समय में प्राप्त हुई है। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि हमें उन बातों की सत्यता की गहरी भावना हो गई है, जोकि ज्योतिदर्शी मनुष्यों के सन्देशों से मिलती हैं, परन्तु हमनें ऊपर कहे हुए ज्योतिप्रकाश या आनन्दातिरेक का अनुभव नहीं किया। ये मनुष्य सर्वदा उसी मानसिक दशा को धारण करते हुए प्रतीत होते हैं जिसे वे लोग धारण करते हैं जिन्हें ज्योतिप्रकाश या दर्शन प्राप्त हुआ है पर अब वे उस प्रकाश या दर्शन से निकल कर उसकी स्मृति और अनुभव को धारण किये हुए हैं और उस चेतना को नहीं जो उन्हें उस समय थी। वे सन्देशों के प्रधान विवरण से सम्मत होते हैं। डाक्टर मारिस बक ने जो अब जीवन के इस लोक से चल बसे हैं, एक किताब "विश्व चेतना" के नाम से लिखी है, जिस में वे ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन करते हैं, जिनमें उनकी घटना, वाल्ट व्हिटमैन और अन्यों की घटनाएँ शामिल हैं, और जिस किताब में वे कहते हैं कि चेतना की यह श्रेणी मानव जाति के आगे है और भविष्य में क्रमशः उनमें आती जावेगी। उनका कथन है कि उसका प्रगट होना, जो मानव जाति के कुछ ही मनुष्यों को प्राप्त हुआ है, सूर्य की

पहली किरणें हैं जो हम तक पहुँच रही है और ये उन किरणों के भण्डार के प्रगट होने की भविष्यद्वाणिया हैं।

यहाँ हम पिछले जमाने के धर्माचार्यों के सन्देशों का उल्लेख न करेंगे जो ऐसे लेख छोड़ गये हैं कि आध्यात्मिक आरोह के क्षणों में वे परमपुरुष के सम्मुख उपस्थित होगये और उसके चेहरे के प्रकाश में प्रवेश कर गये। हम ऐसे सन्देशों का बड़ा आदर करते हैं और इनमें से बहुतों को सत्य भी मानते हैं, यद्यपि विरोधी सन्देश भी बहुत से उन लोगों के दिये मिले हैं, जिन्होंने अनुभव किया है। ये सन्देश परस्पर विरोधी इसलिये हैं कि उन मनुष्यों के मन जिन्होंने इन चेतनाओं का अनुभव किया उस दृश्य के ग्रहण करने के लिये और समझने के लिये पूरा तय्यार न था। उन्होंने अपने को किसी की आध्यात्मिक उपस्थिति में पाया और उस दर्शन से चकाचौंध में पड़ गये। उन्होंने परमपुरुष की सत्ता को न पहचाना और जब वे होश में आये तब कहने लगे कि हम परमेश्वर के सम्मुख पहुँच गये थे। उनके परमेश्वर शब्द का अर्थ वही है जिस भावना को वे परमेश्वर समझे हुए हैं, यानी वह पुरुष जो उनके धर्म की शिक्षा के अनुकूल परमेश्वर रह कर प्रगट हो रहा है। उन्होंने ऐसा कुछ नहीं देखा कि जिससे वे उसको अपनी ईश्वरीय भावना के अनुकूल ईश्वर समझें, केवल उन्होंने ख्याल किया कि यह अवश्य ईश्वर ही होगा और अपनी भावना के अतिरिक्त अन्य ईश्वर को न जान कर, उस पदार्थ को ईश्वर ही मान लिया, और उनके सन्देश इसी प्रकार के हुए।

इस प्रकार सभी मजहबों के सन्देश इन करामाती घटनाओं से भरे हुए हैं। कैथोलिक सन्त लोग कहते हैं कि हमने परमेश्वर के मुख की ज्योति देखी। उसी प्रकार कैथोलिक से भिन्न लोग भी अपनी भावना के अनुकूल ईश्वर का दर्शन करना लिखते हैं। मुसलमान कहते हैं कि हमने अल्लाह को देखा और बौद्ध लोग कहते हैं कि हमने बुद्ध को पेड़ के नीचे देखा। ब्राह्मण कहते हैं कि हमने ब्रह्म को देखा और अन्य हिन्दू लोग अपने २ इष्ट देव को देखना कहते हैं। पारसवाले तथा मिश्रवाले भी ऐसी ही बातें लिख गये हैं। इन विरोधी सन्देशों से ऐसा विश्वास उन लोगों का हो गया है। इन दृश्यों के मर्म को न समझ सके, कि ये सब बातें कल्पना हैं, यदि खालिस झूठ न हों तो। परन्तु योगी लोग इससे बेहतर जानते हैं। वे जानते हैं कि इन भिन्न सन्देशों के नीचे सत्यता वर्तमान हैं जो उस मनुष्य पर विदित हो जावेगी जो इसकी खोज करेगा। वे जानते हैं कि कुछ जाली और बनावटी झूठे सन्देशों को छोड़ कर शेष सब सन्देश सचाई के आधार पर चकाचौंध खाये हुए देखनेवालों के दिये हुए हैं। ये जानते हैं कि वे देखनेवाले थोड़े समय के लिये चेतना की साधारण भूमिका से ऊपर उठ गये थे और मनुष्य से बढ़कर अन्य सत्ता या सत्ताओं के अभिज्ञ हो गये। यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उन्होंने परमेश्वर या परमपुरुष को देख लिया। क्योंकि ऊंची आध्यात्मिकता की अनेक सत्ताएँ हैं जो साधारण मनुष्य को ईश्वर प्रतीत हो सकती हैं। कैथोलिक मतावलम्बियों के इस कथन का समर्थन योगी भी करते हैं कि

फरिश्तों और बड़े फरिश्तों का अस्तित्व है। योगी लोग भी देवताओं और अन्य उच्च सत्ताओं का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार योगी लोग इन भिन्न २ गूढ़ाचारी लोगों के सन्देशों को स्वीकार करते हैं और इनकी समझौती योग दर्शन के नियमों के अनुसार अपने शिष्यों को दे देते हैं। परन्तु ये ही बातें उन लोगों को करामात प्रतीत होती हैं जिन्होंने इसका अध्ययन नहीं किया है।

इस पाठ में इस विषय के इस पटल को हम और आगे नहीं लिख सकते क्योंकि इसका पूरा वर्णन करने में हम अपने विषय से दूर हट जावेंगे। हमारे इस कथन को आप समझ लीजिये कि मनुष्य की मानसिक सत्ता में कुछ ऐसे केन्द्र हैं जहां से परमपुरुष और उच्च कोटि की सत्ताओं के अस्तित्व के विषय में प्रकाश आता है। इन्हीं केन्द्रों से ये भावनाएँ आती हैं जिसे मजहबी वृत्तियां, मजहबी प्रतिभा कहते हैं। मनुष्य उस सर्वाधार चेतना तक जिसकी कुछ वस्तु सब के परे है, बुद्धि के द्वारा नहीं पहुंचता, यह उस प्रकाश की किरण है जो आप के उच्च केन्द्रों से आता है। मनुष्य प्रकाश की इन किरणों का निरीक्षण करता है परन्तु इन्हें न समझने के कारण वह इनकी समझौती करने के लिये नाना प्रकार के कथा पुराणों की रचना करने लगता है क्योंकि बुद्धि से तो वह काम हो नहीं सकता जो काम प्रतिभा और अंतर्दृष्टि का है। सच्चा मजहब, चाहे उसका जो नाम हो, हृदय से उदय होता है और वह इन बुद्धि द्वारा गढ़ी हुई कहानियों से नहीं सन्तुष्ट होता, और इसी लिये उस मनुष्य को बेचैनी और

तोष की प्रबल आकांक्षा होने लगती है जिस पर ज्योति उतरने लगती है।

अब इस विषय के वार्तालाप को इस समय हम स्थगित करेंगे। इस बात को फिर किसी भविष्य पाठ में अन्य बातों के सम्बन्ध में उठावेंगे। हमारे अगले दो पाठ उन भूमिकाओं की जाँच के विषय में होंगे, जो साधारण मनुष्यों की चेतना के बाहर हैं। आप इसको बड़ा ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद जाँच पावेंगे, और वह ऐसी होगी कि आप में से बहुतों के विचार के लिये नये २ क्षेत्र उपस्थित कर देगी।

मंत्र।

मैं उससे कहीं बढ़ी हुई और ऊंची सत्ता हूँ, जैसा कि अब तक मैं अपने को समझता था। मैं क्रमशः परन्तु निश्चय चेतना की ऊंची और अधिक ऊंची भूमिकाओं में विकस रहा हूं। मैं लगातार आगे और ऊंचे बढ़ रहा हूं। मेरा उद्देश सच्चे आपे का अनुभव करना है और मैं विकास की प्रत्येक श्रेणी का स्वागत करता हूं, जो मुझे अपने उद्देश्य की ओर ले जाता है। मैं सत्यता का आविर्भाव हूं। 'मैं हूं'।

आठवाँ पाठ।

मन की ऊंची नीची भूमिकाएँ।

हम लोगों में से प्रत्येक के आपे को प्रगट होने के लिये एक वाहन है जिसे मन कहते हैं, परन्तु यह वाहन उससे अधिक बृहत् और पेचीदा है जैसा हम लोग इसे समझा करते हैं। जैसा कि एक लेखक ने लिखा है "हम लोगों का आपा उससे कहीं बड़ा है जैसा हम उसे जानते हैं। हमारे सचेतन अनुभव की अधित्यका के ऊपर शिखर और नीचे गंभीर खड्ड हैं।" जिसको हम सचेतन मन जानते हैं वही जीव नहीं है। जिसको हम चेतना में जानते हैं, जीव उसका भाग नहीं है, किन्तु, इसके विपरीत, जिसको हम चेतना में जानते हैं, वह जीव का भाग है—बृहत् आपे या "अहम्" का सचेतन वाहन है।

योगी लोगों ने सर्वदा यह उपदेश दिया है कि मन के प्रगट होने और क्रिया करने की कई भूमिकाएँ हैं, और उसकी बहुत सी भूमिकाएँ चेतना की भूमिका के ऊपर और नीचे काम करती हैं। पश्चिमी विज्ञान अब इस बात को जानने लगा है, और उसकी इस विषय की युक्तियाँ अब मनोविज्ञान की किसी भी आधुनिक पुस्तकों में पाई जाती हैं। परन्तु पश्चिमी विज्ञान में यह हाल के विकास का विषय है। अभी थोड़े दिन हुए कि मूल ग्रन्थ चेतना और मन को परस्पर

पर्य्यायवाची धारण करते थे और यह बतलाते थे कि मन अपनी सब प्रक्रियाओं, परिवर्तनों और विकारों से अभिज्ञ है।

लीबनिट्ज़ पहला दार्शनिक हुआ जिसने इस भावना का प्रचार किया कि चेतना की भूमिका के बाहर भी मानसिक क्रियाओं की भूमिकाएँ हैं, और उसके समय के प्रधान विचार-शील लोग इस स्थिति की ओर आगे बढ़े हैं।

वर्तमान समय में अब साधारणतः यह माना जाता है कि कम से कम ९० प्रति सैकड़ा मानसिक क्रियाएँ चेतना से बाहर की भूमिकाओं में होती हैं। प्रख्यात विज्ञानी प्रोफेसर एलमर गेट्स कहते हैं कि "कम से कम ९० प्रति सैकड़ा हमारा मानसिक जीवन अनुद्बुद्ध है। यदि आप अपनी मानसिक क्रियाओं का विश्लेषण करें तो आपको विदित होगा कि सचेतन विचार कभी लगातार चेतना के पथ पर नहीं होते, किन्तु, सचेतन बातों की शृंखला, जिसके बीच २ में अनुद्बोध रहा करता है, हुआ करती हैं। हम बैठ कर एक प्रश्न हल करते हैं, हार जाते हैं। हम टहल कर उसे फिर सोचने लगते हैं और फिर हार जाते हैं। झट एक भावना उदय होती है जिससे प्रश्न हल हो जाता है। अनुद्बुद्ध क्रियाएँ काम कर रही थीं। हम इच्छा पूर्वक अपने विचार को उत्पन्न नहीं करते। वह हमारे भीतर हुआ करता है। हम कमोबेश उसके निष्क्रिय ग्रहीता हैं। हम किसी विचार या सत्य की प्रकृति को परिवर्तित नहीं कर सकते, परन्तु हम मानो पतवार घुमा कर नौका को किसी ओर फेर सकते हैं। हमारा मनन अधिक-तर हमारे ऊपर बृहत विश्वमन का प्रतिफल है।

टेन साहब कहते हैं कि "छोटे प्रकाशमय वृत्त के बाहर एक वृहत उषा का घेरा है और इसके बाहर अस्पष्ट रात्रि है, परन्तु इस उषा और इस रात्रि की घटनाएँ भी उतनी ही यथार्थ हैं जितनी कि प्रकाश की घटनाएँ हैं"।

हम अपने शिष्यों से आग्रह करते हैं कि ऊपर के लेखों को मनोयोग देकर पढ़ें क्योंकि वे मानसिक भूमिकाओं की वास्तविक बातों का ठीक २ वर्णन करते हैं।

बहुत से लेखकों ने विचार की अनुद्बुद्ध भूमिकाओं की क्रियाओं के उदाहरण दिये हैं। एक ने लिखा है कि एक प्रश्न के हल करने में हम बहुत देर तक लगे थे पर वह प्रश्न हल न हो सका, फिर, उस प्रश्न का साधन झट हमारे मन में इस प्रकार उदय हो गया मानो किसीने हमें स्पष्ट बतला दिया है और हम भय से कांपने लगे। सब को स्मरण होगा कि हम किसी नाम या बात को स्मरण किया चाहते हैं पर स्मृति हार जाती है, फिर कुछ क्षणों या घंटों के पश्चात् वही नाम या बात आप से आप स्मरण आ जाती है। हमारे मन के भीतर कुछ काम हो रहा था, उस नाम या बात की ढूंढ़ हो रही थी, और जब वह मिल गया तो हमारे सामने उपस्थित कर दिया गया।

डाक्टर शोफ़ील्ड साहब लिखते हैं कि मन चारों ओर पहुँच रखता है, एक ओर (ऊपर) तो वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर से अंतःप्रेरणा पाता है और दूसरी ओर (नीचे) वह उस देह की शक्ति से भरता है जिसके उद्देश्यपूर्ण जीवन को इसने उभाड़ा है। हम अधिसंवित (उच्च) मानस को

अध्यात्म जीवन का मंडल और अनुद्बुद्ध मन को दैहिक जीवन का मंडल कह सकते हैं और सचेतन मन मध्य मंडल है, जहां दोनों ऊपर और नीचे वाले मंडलों का मेल होता है।

इसीकी शृंखला में डाक्टर शोफ़ील्ड कहते हैं कि "ईश्वर की आत्मा केवल भक्तों में रहती हुई कही जाती है पर तौ भी उसकी सत्ता सीधी चेतना का विषय नहीं है। इस लिये हम अधिसंवित (उच्च) मानस में उन आध्यात्मिक भावनाओं को भी अन्तःकरण के सहित जो मैक्समूलर के कथनानुसार ईश्वर का शब्द कहा जाता है, शामिल करेंगे और यह अर्द्धचेतन शक्ति है। यह अधिसंवित मानस अनुद्-बुद्ध मानस की भाँति तभी ध्यान में आता है जब चेतन मानस निष्क्रिय रहता है। आध्यात्मिक आविर्भाव आभासों, ध्यानों, प्रार्थनाओं और स्वप्नों में भी प्रगट होते हैं, और बुद्धि तथा मन की क्रियाओं के अतिरिक्त बहुत से उदाहरण आत्मा की क्रियाओं के भी दिये जा सकते हैं। यथार्थ बात यह प्रतीत होती है कि मन अपनी समष्टि में तो अचेतन अवस्था में है, उसके पास उसके मध्य चित्रण, उच्च आध्यात्मिक और नीच दैहिक आविर्भावों को छोड़ कर, कभी २ कमोवेश मात्रा में चेतना द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं, और इसी प्रकाशित भाग को मन कहा जाता है, यद्यपि नीचे से ऊपर तक समग्र मन ही है।"

ओलिवर वेंडेल होम्स साहब कहते हैं कि "धीमी लगा-तार बातों के सुनते रहने से जिसमें चेतन मन बझा रहे, विचार के स्वतः प्रवाह को सुगमता मिलती है। विचार की

प्रेरित धारा प्रायः उतनी ही तीव्र और स्पष्ट होती है जितनी प्रेरणा करनेवाली धारा निर्बल होती है"।

जेनसेन साहब लिखते हैं कि "जब हम किसी वस्तु का विचार अपने मन के सारे बल को लगा कर करते हैं तब हम बिलकुल अचेतन दशा में पड़ सकते हैं, जिसमें हम केवल बाहरी ही संसार को नहीं भूल जाते, किन्तु अपने विषय में और भीतर उठते हुए विचारों के विषय में भी कुछ नहीं जानते। तब हम एकबारगी मानों स्वप्न से जग उठते हैं, और प्रायः उसी समय हमारे ध्यान का प्रतिफल हमारी चेतना में बहुत स्पष्ट प्रगट होजाता है और हम जानते भी नहीं कि वह कैसे आया"।

बहुत से लेखकों ने उस प्रक्रिया का वर्णन किया है कि कैसे अनुद्बुद्ध मनन क्रमशः चेतना के क्षेत्र में आता है और यह कि इस प्रक्रिया में असुख होता है। थोड़े से उदाहरण यहाँ रोचक और शिक्षाप्रद होंगे।

माडस्ली साहब कहते हैं कि "किसी अनिश्चित भावना के कारण मनुष्य असुखी हो जाता है, जब उसे उस भावना को कह या कर डालना चाहिये था पर वह भावना स्मरण में प्रगट नहीं होती। उस खोई हुई भावना को चेतना में लाने के लिये भीतर ही भीतर प्रयत्न होता है, और ज्योंही वह भावना चेतना में आ जाती है त्यों ही असुख मिट जाता है।"

ओलिवर वेन्डेल होम्स साहब कहते हैं कि "ऐसे भी विचार होते हैं जो चेतना में नहीं आते पर तौ भी अपने प्रभाव को उसी प्रकार प्रत्यक्ष करनेवाली मानसिक धाराओं

में विदित करते हैं जैसे अदृष्ट ग्रह दृष्ट ग्रहों की चाल पर प्रभाव रखते हैं। बोस्टन के एक व्यापारी ने किसी बड़ी बात को सोचते २ हार कर छोड़ दिया। उसका मस्तिष्क ऐसा असुखी रहने लगा कि वह समझा कि कोई बीमारी हो रही है। कई घंटों के बाद प्रश्न का साधन उस पर प्रगट होगया, उसने समझ लिया कि यही हल हो रहा था तभी उसके मस्तिष्क में असुख था।"

अब हम भिन्न २ पश्चिमी लेखकों के मतों के देने में बहुत समय और स्थान लगा चुके कि चेतना के क्षेत्र के बाहर भी मन की भूमिका या भूमिकाएँ हो सकती हैं। हमने इन मतों को प्रमाण स्वरूप नहीं उद्धृत किया है किन्तु इस लिये उद्धृत किया है कि आप लोग समझें कि अब पश्चिमी आचार्य भी चेतना के बाहर भी मन की भूमिकाओं को मानने लगे हैं, यद्यपि थोड़े ही दिन हुए कि इस भावना को लोग तुच्छ और पूर्वीय आचार्यों का स्वप्न समझ कर इस पर हँसते थे। प्रत्येक लेखक ने इस विषय की रोचक बातों को प्रगट किया है और हमारे शिष्यों को विदित होगा कि इनके अनुभव भी उन लेखकों के लेखों का समर्थन करते हैं। इस प्रकार हम ख्याल करते हैं कि यह विषय और भी सरल हो जायगा और हमारे शिष्यों के मन पर जो इस पाठ को अध्ययन कर रहे हैं अंकित हो जायगा।

परन्तु हम अपने शिष्यों को सावधान करते हैं कि वे पश्चिमी आचार्यों की ऊपर लिखी सब युक्तियों को अचेतन दशाओं के विषय में धारण न कर लें। दिक्कत तो यह है कि

पश्चिमी आचार्य लोग अचेतन भूमिकाओं के मनन से जो उनके ऊपर फूट पड़ी है चकाचौंध में आगये हैं और शीघ्रता से उन्होंने उन युक्तियों को धारण कर लिया है, जिनको वे समझे हैं कि इस विषय के प्रत्येक प्रश्न को हल कर देंगी। इन लेखकों ने यद्यपि मन के विषय में अनेक नयी और अब तक अज्ञात बातों को कह कर लोगों की आखें खोल दी हैं, तौ भी ये अभी तक इस विषय की पूरी जाँच नहीं कर सके हैं। यदि ये पूर्वीय दर्शनों का थोड़ा भी अध्ययन कर लेते तो इनके और इनके शिष्यों के अनेक भ्रम मिट जाते।

उदाहरण के लिये देखिये कि इन लेखकों में से अधिकांश ने शीघ्रता से इस बात को धारण कर लिया है कि चूंकि चेतना के बाहर भी मन की भूमिका है इसलिये मन की क्रियाएँ दो ही भागों में बांटी जा सकती हैं अर्थात् चेतन और अचेतन और चेतना के बाहर के सब दृश्य अचेतन वा अनुद्बुद्ध मन के अंतर्गत कहे जा सकते हैं। उन्होंने इस बात का ख्याल नहीं किया कि इस प्रकार के मानसिक दृश्यों में उच्चतम और नीचतम दोनों प्रकार के मनन हैं। उन लोगों ने अपने नये पाये हुए मन में जिसे वे अचेतन मन कहते हैं, नीच वृत्तियों, पाशविक वृत्तियों, विक्षिप्त आवेगों, भ्रमों, पक्षपातों, पाशविक बुद्धि इत्यादि को कवि और संगीताचार्य की प्रतिभा और उन उच्च आध्यात्मिक आकाक्षाओं और अनुभवों को भर दिया है जो जीव की उच्च भूमिकाओं से प्राप्त होती हैं।

यह गलती स्वाभाविक थी और पढ़ते ही पढ़ते पश्चिमी संसार ने चकित हो कर इन नयी भावनाओं और युक्तियों

को यथार्थ समझ लिया । परन्तु जब स्थिर विचार होने लगा और विश्लेषण का प्रयोग हुआ तो निराशा और असन्तोष की भावना प्रगट हुई और मनुष्य सोचने लगे कि इसमें कुछ त्रुटि है । वे प्रतिभा-बल से जान गये कि उनकी उच्च अन्तः-प्रेरणायें और स्फूर्तियां मन के भिन्न भाग से उत्पन्न होती हैं, और नीच वृत्तियां और अन्य अचेतन भावनायें तथा प्रवृत्तियाँ भिन्न भाग से आती हैं ।

पूर्वीय दर्शनों पर दृष्टि डालने से इस प्रश्न की कुंजी तुरत मिल जाती है । पूर्वीय आचार्यों ने सर्वदा इस बात को धारण किया है कि सचेतन मनन विचार के समस्त विस्तार का एक छोटा खंड है और वे सर्वदा से उपदेश देते आये हैं कि किस प्रकार चेतना के ऊपर भी मनन का क्षेत्र है जो बुद्धि से उतना ही ऊपर है जितना पहला बुद्धि से नीचे है । इस बात का जिक्र ही उन लोगों के लिये ज्ञानोदय हो जायगा जिन्होंने पहले इसे नहीं सुना था और जो आधुनिक पश्चिमी आचार्यों के दो मन वाली युक्ति से घबड़ा से गये हैं । मनुष्य जितना ही इस विषय में पढ़ेगा उतना ही पश्चिमी विज्ञानों से पूर्वीय शास्त्रों की श्रेष्ठता समझेगा ।

अपने अगले पाठ में हम अधिसंवित भूमिका और अचेतन भूमिका का वर्णन करेंगे, दोनों में अन्तर दिखलावेंगे और इनके विषय में पिछले पाठों में जो कुछ कहा गया है उससे और भी कुछ अधिक कहेंगे ।

ये सब बातें हम लोगों को उस ओर ले जा रही हैं जहाँ हम आप को शिक्षा और विकास बतला सकते हैं। इन चेतना

से बाहर की शक्तियों को पुनः शिक्षा दे और दिग्दर्शन कर सकते हैं। मनन की नीची भूमिकाओं को पुनः शिक्षा देने से और ऊँची भूमिकाओं को उत्तेजित करने से मनुष्य अपने को सिद्ध बना सकता है और उन शक्तियों को प्राप्त कर सकता है जिनका वह अभी स्वप्न ही देखता रहा है। इसी लिये हम इस विषय की पूरी समझ की ओर आप को क्रमशः ले जा रहे हैं। हम आपको उपदेश देते हैं कि आप इस विषय के प्रत्येक पटल से अभिज्ञ हो जाइये कि जिससे अगले पाठों में इन शिक्षाओं और उपदेशों का प्रयोग कर सकिये।

मंत्र।

मैं जानता हूँ कि जैसा मेरा आपा प्रतीत होता है उससे वह कहीं बड़ा है। मैं यह भी जानता हूँ कि चेतना के नीचे और ऊपर दोनों ओर मानसिक भूमिकाएँ हैं। जिस प्रकार नीचे भूमिकाएँ हैं जो हमारे जन्मों के गत और विगत अनुभवों से सम्बन्ध रखती हैं और जिन पर हम अब अपनी प्रभुता प्रतिपादन करते हैं, वैसे ही ऊपर भी मानसिक भूमिकाएँ हैं जिनमें अब हमारा क्रमशः विकास हो रहा है जिससे हमें ज्ञान, शक्ति और आनन्द प्राप्त होंगे। मैं स्वयम् इस मानसिक संसार के बीच में हूँ—मैं अपने मन का स्वामी हूँ, मैं मन के नीचेवाले पटल पर अपनी प्रभुता स्थापित करता हूँ और मन ऊपर के पटलों के लंगर में जो कुछ है उसे प्राप्त करूँगा।

नवां पाठ।

मानस लोक।

पिछले पाठ में हमने चेतना के बाहर मन की क्रियाओं के विषय में आप लोगों से कुछ कहा है। इस पाठ में चेतना के बाहर के इन लोकों को, आपके अवधान को चेतना के ऊँचे और नीचे के अनेक लोकों की ओर आकर्षित करके, पृथक् २ श्रेणियों में दिखलावेंगे। जैसा कि हम पिछले पाठ में बतला आये हैं ९० प्रति सैकड़ा से ऊपर हमारी मानसिक क्रियाएँ चेतना क्षेत्र के बाहर होती हैं, इस लिये इन बाहर के लोकों का विचार बड़े ही महत्व का है।

मनुष्य विश्व के महत् एकजीवन की चेतना का एक केन्द्र है। इसका जीवन बहुत श्रेणियों को पार करके अब विकास की वर्तमान श्रेणी और स्थिति में पहुँचा है। यह और भी तब तक अनेक श्रेणियों को पार करता रहेगा जब तक इसकी दैहिक आच्छादनों में बँधे रहने की आवश्यकता नितान्त जाती न रहेगी।

अपनी मानसिक सत्ता में मनुष्य उन सब बातों के चिन्हों को धारण करता है जो पहले बीत गई हैं-अपने पुराने सब अनुभवों, तथा उस जाति की गति के चिन्हों को धारण करता है जिस जाति का वह एक अंश है। और इसी प्रकार से इसके मन में ऐसी शक्तियाँ और मानसिक लोक हैं जो अब

तक चेतना में विकसित नहीं हुए हैं और जिनके अस्तित्व से मनुष्य पूरा अभिज्ञ भी नहीं है। ये सब मानसिक सम्पत्तियाँ इसके लिये लाभदायक और बहुमूल्य हैं-यहाँ तक कि नीच सम्पत्तियां भी। नीच सम्पत्तियों के व्यवहार से भी, उनपर प्रभुता रख कर यह लाभ उठा सकता है, और ये सम्पत्तियाँ उसी समय हानिकारक होती हैं जब यह उन्हें अपने ऊपर प्रभुता दे देता है और अपनी वर्तमान श्रेणी के विचार से उन्हें अपना दास नहीं बनाये रहता।

अनेक मानसिक लोगों के इस विचार में हम उन रूढ़ि शब्दों का व्यवहार न करेंगे जो योगशास्त्र में इन लोकों के लिये व्यवहृत किये गये हैं, परन्तु इन्हें हम साधारण समूहों में रक्खेंगे और प्रत्येक लोक की विशेषताओं का वर्णन करेंगे। इन अनेक लोकों की उत्पत्ति और वृद्धि के विवरण में न जायँगे क्योंकि इससे हम अपने विषय के क्रियात्मक विचार से दूर हट जायँगे।

सोपान की सब से नीचेवाली श्रेणी से प्रारम्भ करने में हम देखते हैं कि मनुष्य को शरीर होता है। यह शरीर जीव बीज (Protoplasm) के बहुत ही छोटे २ देहाणुओं से बना है। ये देहाणु अनगिनत कणों, परमाणुओं और भौतिक द्रव्य के सूक्ष्म खंडों से बने होते हैं। ये भौतिक द्रव्य वे ही हैं जिनसे उसके चारों ओर की चट्टानें, वृक्षावलियाँ, हवा आदि बनी हैं। योगशास्त्र बतलाता है कि भौतिक द्रव्य के परमाणुओं में भी जीवन और मन का प्रारम्भिक विकास है जिसके कारण वे आकर्षण शक्ति के नियमानुसार परस्पर जुट

कर समूह बनाते हैं जिनसे भिन्न २ तत्व और समुदाय बनते हैं। यह आकर्षण शक्ति मानसिक क्रिया है और मानसिक अभिरुचि, क्रिया और प्रतिक्रिया का पहला प्रकटीकरण है। इसके भीतर प्राण या शक्ति है, जो ठीक २ कहा जाय तो वह भी मन ही की अभिव्यक्ति है, यद्यपि सुविधा के लिये हम इसे परमात्मा का पृथक् आविर्भाव कहते हैं।

इस तरह हमें विदित होता है कि भौतिक द्रव्य के परमाणुओं और कणों में आकर्षण शक्ति का यह नियम मानसिक क्रिया है और यह मनुष्य के मानसिक राज्य का विषय है, क्योंकि मनुष्य के शरीर है और यह मानसिक क्रिया सर्वदा उसमें हुआ करती है। इस प्रकार यह सब से नीचा मानसिक लोक है जिसका विचार मनुष्य की बनावट में किया जा सकता है। यह लोक चेतना लोक के बहुत ही नीचे डूबा हुआ है और मनुष्य की व्यक्ति में कदाचित ही गिना जाता है। यह सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखता है और जिस प्रकार चट्टानों में प्रगट है वैसे ही मनुष्य में भी प्रगट है।

परन्तु जब ये परमाणु आकर्षण के नियम से समूह रूप में जुट जाते हैं और भौतिक अणु बन जाते हैं तो इन पर ऊंची मानसिक क्रिया अधिकार कर लेती है और वनस्पतियों की मानसिक क्रिया द्वारा इन अणुओं का देहाणु बन जाता है। वनस्पति का जीवन-आवेग इस प्रकार प्रारम्भ होता है कि भौतिक द्रव्य के कुछ कणों—रसायनिक तत्वों—को अपनी ओर खींचता है और तब उनका देहाणु बनाता है। धन्य है इस देहाणु का रहस्य! मनुष्य की बुद्धि इस अद्भुत क्रिया

की समता कभी नहीं कर सकती, बनस्पति—लोक में मानस-तत्व इस बात को ठीक २ जानता है कि कैसे और किस तत्व को कितना खींच कर एक देहाणु बनाया जाता है। तब उस देहाणु में अपना निवास बना कर, उसे अपनी क्रिया की आधार-भूमि बना कर, वह अपनी पूर्व क्रिया को जारी करता है, और देहाणु पर देहाणु जोड़े जाते हैं। यहाँ उत्पत्ति करने का तरीका भाजन और विभाजन होता है। यही प्रारम्भिक और यक्ष कामक्रिया है। यह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक पूरा पौधा नहीं बन जाता, छोटी से छोटी बनस्पति काई आदि से लेकर बड़े से बड़े बरगद के वृक्ष तक में यही प्रक्रिया होती है।

यहाँ ही समाप्ति नहीं होती। इसी रीति से मनुष्य का शरीर भी बनता है और उसमें भी बनस्पति-मन होता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह बनस्पतिमन चेतना के नीचे होता है। बनस्पति-मन की यह भावना बहुतों के लिये चमत्कारी प्रतीत होगी, परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि हमारे देह का प्रत्येक कण बनस्पति देहाणुओं ही से बना है। अजात शिशु दो देहाणुओं के मिश्रण से प्रारम्भ होता है। येही देहाणु बच्चे के निवास के लिये शरीर बनाने लगते हैं। देहाणुओं में का मानसतत्व क्रिया की प्रेरणा करता है, माता के शरीर से पुष्टि और सामग्री लेता है। माता के रुधिर में जो पुष्टि रहती है, जो बच्चे की देह बनने में सामग्री मुहइया करती है, वह माता के बनस्पति देहाणुओं को खाने और उन्हें आत्मसात् करने से बनती है। यदि माता फल, मूल और बनस्पति

अन्न खाती है तो वह सीधे बनस्पति जीवन से पुष्टि प्राप्त करती है। यदि वह मांस खाती है तौ भी वह पुष्टि बनस्पति ही से प्राप्त होती है, क्योंकि उस जानवर ने जिसका मांस खाया जाता है अपने मांस को बनस्पति ही से बनाया था। अन्य कोई उपाय नहीं है। पशु और मनुष्य योनि की सारी पुष्टि बनस्पति योनि से सीधे या अन्तर देकर प्राप्त होती है।

बच्चे की देहाणु क्रिया वैसी ही होती है जैसी पौधे की देहाणु क्रिया होती है। ये देहाणु सर्वदा अपने को उत्पन्न किया करते हैं और अपने ही एकत्रित समूह बनाकर शरीर के अवयव, भाग इत्यादि मन की प्रेरणा से बन जाते हैं। इस प्रकार बच्चा जन्म के समय तक वृद्धि करता रहता है। जब यह जन्म ले लेता है तो प्रक्रिया थोड़ी बदल जाती है। बच्चा या तो माता या गौ के दूध या भोजन के अन्य किसी रूप से पोषण पाने लगता है। ज्यों २ वह बढ़ता जाता है त्यों २ भिन्न २ भोजनों से पोषण पाता है। परन्तु वह सर्वदा अपने देह बनाने की सामग्री पौधों ही से लेता है।

यह बनावट की प्रक्रिया बुद्धिमूलक, साभिप्राय और अद्भुत होती है। मनुष्य अपनी अभिमानिनी बुद्धि द्वारा इस प्रक्रिया की असली वास्तविकता को नहीं समझा सकता। एक नामी विज्ञानी ने, जो एक छिपकिली के अंडे को अपने खुर्दबीन की जाँच तले रक्खे था और उसके विकास का निरीक्षण करता था, कहा है कि ऐसा प्रतीत होता था कि मानो कोई अदृश्य हाथ उस जन्तु का खाका बना रहा है और तब उस पर छिपकिली की रचना कर रहा है। चींटी के अंडे

के भीतर के जीवबीज के क्रमशः विकास को तो तनिक सोचिये। प्रत्येक क्षण में उसमें परिवर्तन देखने में आता है। जीवबीज देहाणु अंडे के अन्य भाग से पोषण ग्रहण करता है और बढ़ता है तब दूसरे देहाणु को उत्पन्न करता है। तब दोनों देहाणु बँट जाते हैं, बढ़ कर फिर बँट जाते हैं। इस प्रकार करोड़ों देहाणु बन जाते हैं। तब तक बराबर बनावट की प्राक्रिया जारी रहती है, और वह चींटी अपने रूप और सूरत की बन जाती है और अंडे की क्रिया समाप्त होकर चींटी बाहर निकल आती है।

इस प्रकार प्रारम्भ हुआ कार्य जन्तु की मृत्यु तक जारी रहता है, क्योंकि देहाणुओं और देहकणों का व्यवहृत होना और छीजना जारी रहता है जिनके स्थान पर दूसरे देहाणुओं का होना आवश्यक होता है। इसलिये पौधे, कीड़े, पशु, या मनुष्य को वनस्पतिमानस भोजन से नये देहाणुओं के बनाने में लगातार लगा रहता है और व्यवहृत छीजे निकम्मे देहाणुओं को देह से बाहर निकालता रहता है। इतना ही नहीं वह रुधिरसंचार के काम को भी सँभालता है कि जिससे बनावट की सामग्री शरीर के सब भागों में पहुँचाई जा सके। यह पाचन और रसकर्षण क्रियाओं को, जो शरीर के अवयव का अद्भुत कार्य है, सँभालता है। यह क्षतों के पूरा करने, बीमारियों के हटाने और देह की रक्षा आदि की क्रियाओं को सँभालता है। ये सब बातें चेतना लोक के बाहर की हैं। यह वनस्पतिमानस का लोक मनुष्यों में भी है और पौधों में भी है। यह अपना कार्य मनुष्य के चेतन भाग की बिना सहा-

यता ही के करता है, यद्यपि मनुष्य विपरीत विचारों द्वारा इसके कार्यों में विघ्न डालता है और इसके यत्नों को कुंठित कर देता है। मानसिक रोगमोचन साधारण दशाओं का लौटाना है, जिससे शरीर का यह अंग विपरीत चेतन विचारों की बाधा से रहित होकर अपना कार्य करे।

मन के इसी लोक में जीवनरक्षक सब क्रियाएँ और प्रक्रियाएँ पाई जाती हैं। यह सब काम चेतना के बाहर होता है, और चेतना को मन के इस भाग की तब सूचना मिलती है जब यह चेतना के ऊपर भोजन आदि का तक़ाज़ा करता है। इसी लोक में आदि प्रवृत्तिमानस भी रहता है, जो जनन और कामक्रिया की ओर झुकता है। मन के इस भाग की चाहना सर्वदा वृद्धि की ओर रहती है, और व्यक्ति की वृद्धि की श्रेणी के अनुसार इस चाहना की पूर्ति होती है। आदि प्रेरणाएँ और कामनाएँ जिन्हें हम चेतना के क्षेत्र में उठती हुई पाते हैं, मन के इसी लोक से आती हैं। भूख, प्यास और काम चेष्टाएँ, इसीके सन्देश से उच्च मन के प्रति हैं और ये सन्देश स्वाभाविक और उन अपव्यवहारों से मुक्त होते हैं, जिन्हें बुद्धि अयंत्रित पाशविक प्रेरणाओं से जोड़ देती है। क्षुधालुता और अस्वाभाविक कामवृत्ति मन के इस लोक से नहीं उठती, क्योंकि नीच पशु इनसे अधिकांश मुक्त होते हैं, परन्तु मनुष्य ही इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को इतना अपव्यवहृत करता है कि जिससे प्रकृति सहायता पाने के स्थान पर बाधा पाती है।

ज्यों २ जीवन सोपान पर ऊपर चढ़ा और पशु रूप

दृश्य में आने लगे त्यों त्यों मन के नये लोक, जीवित रूपों की आवश्यकता के अनुसार विकसित होने लगे (पशु अपने भोजन को ढूँढ़ने के लिये विवश हुआ), (दूसरे रूपों का शिकार करने और दूसरे पशुओं के शिकार बनने से बचने के लिये)। इस लिये वह विवश हुआ कि अपने मन की गुप्त शक्तियों को जगावे जिससे जीवन के उद्देश्य में अपना कर्तव्य पालन कर सके। वह जीने और अपनी जाति की अन्य व्यक्तिओं को उत्पन्न करने के लिये विवश हुआ। और उसकी चाहना निष्फल न गई। क्योंकि उसके जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली वस्तुओं का ज्ञान धीरे २ आने लगा। इसको हम प्रवृत्ति-मानस कहते हैं। परन्तु स्मरण रखिये कि प्रवृत्ति-मानस से हमारा अभिप्राय उस उच्च वस्तु से नहीं है जो प्रारम्भिक बुद्धि उच्च कोटि के पशुओं में पाई जाती है। हम तर्कहीन उस प्रवृत्ति के विषय में कह रहे हैं जो नीच पशुओं और किंसी कदर मनुष्यों में पाई जाती है। मनन का यही प्रवृत्ति लोक चिड़ियों से अंडा देने के पहले घोंसला बनवाता है, पशुमाताओं से जन्मे हुए शिशुओं की रक्षा कराता है, और मधुमक्खियों से छत्ता बनवा कर उनमें मधु भरवाता है। ये बातें और और पशु जीवन तथा वनस्पति जीवन के उच्च उच्च रूपों की अन्य बातें प्रवृत्ति मानस की व्यंजन है— मन का यह बृहत् लोक है। सच तो यह है कि जानवर के जीवन का एक बड़ा भाग प्रवृत्तिमूलक है, यद्यपि जानवरों के उच्च रूपों में प्रारम्भिक बुद्धि की भाँति की कोई वस्तु विकसित होती है, जो उन्हें इस योग्य बनाती है कि उन नयी

दशाओं के अनुकूल हो जाँय जहां केवल प्रवृत्ति हार जाती है।

मनुष्य में भी चेतना के नीचे मन का यह लोक है। सच तो यह है कि मनुष्य जीवन के नीच रूपों में बुद्धि का बहुत कम विकास होता है और वे प्रायः बिलकुल ही अपनी प्रवृत्ति प्रेरणाओं और कामनाओं ही के अनुसार जीते हैं।

प्रत्येक मनुष्य अपने भीतर इस प्रवृत्तिमूलक मानसिक लोक को धारण करता है और इसीसे ऐसी प्रेरणाएँ और कामानएँ उत्पन्न होती हैं जो उसे तंग किया करती हैं और कभी २ उसकी सेवा भी कर देती हैं। इसका सारा रहस्य इस प्रश्न में है कि मनुष्य अपने निचले आपे पर प्रभु है कि नहीं?

मन के इसी लोक से पैत्रिक प्रेरणाएँ उठती हैं जो पूर्व पुरुषों की ऊपर की पीढ़ियों से चली आती हैं। यह एक अद्भुत भण्डार है। पशुवृत्तियां—आवेग, इच्छाएँ, कामनाएँ, भावनाएँ, इत्यादि सब इसमें होती हैं। ईर्षा, द्वेष, बदला लेने की इच्छा, पाशविक कामवृत्ति इत्यादि इसमें रहती हैं और जब तक हम इन पर अपनी प्रभुता नहीं स्थापित करते तब तक यह तंग किया करती हैं। इन कामनाओं इत्यादि के यथार्थ रूप को न समझने ही से प्रभुता स्थापित करने में निष्फलता होती है। लोग कहा करते हैं कि ये बुरी बातें हैं पर यह नहीं बतलाते कि क्यों और हम लोग इनसे डरते हैं इन्हें दुष्ट प्रकृति की या दुष्ट मन की प्रेरणा समझते हैं। यह सब गलत बात है। ये चीजें स्वयम् बुरी नहीं हैं—ये धर्मतः हममें आती हैं—ये प्राचीन

काल से हमारी पैत्रिक मानसिक सम्पत्ति हैं। ये हमारी प्रकृति के पशुभाग की वस्तुएँ हैं और हमारे पशुरूप ही के लिये, विकाश की उस श्रेणी में आवश्यक थीं। हमारे भीतर समस्त पशुशाला है पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हम उन पशुओं को अपने और अन्यों के ऊपर छोड़ दें। पशु के लिये भयंकर, युद्धप्रिय, जोशीला दूसरे के स्वत्वों से लापर-वाह आदि होना आवश्यक था, परन्तु हम विकास की उस श्रेणी को पार कर आये हैं और फिर उसी पर लौट जाना और उसीको अपना हाकिम बना लेना अपमान की बात समझते हैं।

यह पाठ धर्म या नीति की शिक्षा नहीं देता। हम विधि निषेध के विषय पर बाद विवाद नहीं किया चाहते। परन्तु आपके अवधान को इस बात की ओर आकर्षित किया चाहते हैं कि मनुष्य का मन अपने ही अन्तःकरण से उस धर्म को पहचान लेता है जो मन के उच्च लोकों से आता है और जो हमारे विकास का उच्चतम फल है और इसी भांति वह उस अधर्म को भी पहचान जाता है जो हमारे मन के नीच लोकों से आता है, जो लोक कि हमारे भीतर पशु लोक है, और जिन्हें हम पार कर आये हैं।

धर्म और नीति का सविस्तर विवरण देने में हम घबड़ा जा सकते हैं और नहीं समझा सकते कि क्यों कुछ बातें पुण्य और क्यों कुछ बातें पाप समझी जाती हैं, परन्तु तौ भी हम अपने ही अंतःकरण द्वारा जानते हैं कि यथासाध्य उच्चतम धर्म वही है कि उस बात को कर दिया जाय जो हमारे मन के उच्च भागों से आती है और नीचतम पाप वह है

जो हमें नीच पशु के जीवन में ले जाय, जहां तक मानसिकता से सम्बन्ध है। इसलिये नहीं कि स्वयम् पशुओं की मानसिक प्रक्रियाओं और उनके प्रतिफलों में कोई परम निषिद्ध बात है, पशुओं में वे बातें पुण्य और पूरी स्वाभाविक हैं, परन्तु हम अन्तःकरण से जानते हैं कि हमारे लिये पशुश्रेणी में जाना विकास के सोपान में पीछे हटना है। हम मनुष्य को पशुता और निष्ठुरता करते देखते हैं तो स्वभाव ही से सिहर उठते हैं। हम चाहे न जानें कि क्यों, परन्तु थोड़े ही विचार से दिखलाई देगा कि यह विकास के सोपान में नीचे गिरनां है जिस पर हमारा आध्यात्मिक भाग आपत्ति और विरोध करता है।

परन्तु इसका अर्थ यह न लगाना चाहिये कि उच्च जीव पशु-संसार को घृणा या तुच्छ भाव से देखता है। इसके विपरीत जितना आदर पशुओं का योगी और अन्य उच्च जीव करते हैं उससे बढ़कर पशुओं के लिये कदाचित ही कहीं आदर पाया जाता हो। वे पशुओं को अपनी पदवी की पूर्ति करते हुए देख कर प्रसन्न होते हैं, कि वे जीवन के दैवी उद्देश्य को पूरा कर रहे हैं। उनकी पाशविक वृत्तियों कामनाओं को उन्नत जीव सहानुभूति और प्रेम से देखते हैं और उनमें कुछ भी पाप या घृणित वस्तु नहीं देखते। वहशी जातियों के रूखापन और उनकी कठोरता को भी बड़े जीव आदर से देखते हैं। वे लोग इन मनुष्यों की श्रेणी और विकास के अनुकूल इस प्रत्येक बात को स्वाभाविक समझते हैं।

जब कभी ये बड़े जीव सभ्य जीवन का अधःपात देखते

हैं तब उन्हें खेद और पीड़ा होती है। क्योंकि यहां वे विकास के स्थान पर संकोच पाते हैं, उन्नति और सुधार के स्थान पर अवनति और विगाड़ पाते हैं। इस बात को केवल वे ही नहीं जानते, किन्तु, पतित मनुष्य भी इसका अनुभव करते हैं और इसे जानते हैं। पशु और वहशी मनुष्य जब अपने स्वाभाविक जीवन की क्रियायें कर रहे हैं तब उनको गौर से देखिये उनके इंगित और आकार कैसे स्वतंत्र और स्वाभाविक मालूम होते हैं। पर इनकी तुलना पापी मनुष्यों से कीजिये और देखिये कि पापी लोग कैसे दिखाई देते हैं। पशु लोग अभी तक बुराई भलाई का विवेक नहीं रखते, उन्होंने अभी तक निषिद्ध फल नहीं खाया है। इसके विपरीत हमारे सभ्य जीवन के पतित और पापी मनुष्यों को देखिये। उनकी छिपी निगाह और पाप की चेतना पर दृष्टि डालिये जो प्रत्येक चेहरे पर प्रगट हो रही है। पाप की इस चेतना का बड़ा भारी बोझ उन पर रहता है, यह बोझ उनके दण्ड से भारी है। वह वस्तु जिसे अन्तःकरण कहते हैं, कुछ समय के लिये गला घोंट कर दबा दिया जा सकता है, परन्तु शीघ्र या देर में वह फिर प्रगट होताह और पापी से प्रायश्चित्त माँगता है।

तौ भी आप कहेंगे कि यह बात सोचने में बहुत ही कठिन जान पड़ती है कि एक ही वस्तु एक मनुष्य में धर्म और दूसरे में पाप हो। यह कठिन कथन और भयंकर सिद्धान्त जान पड़ता है, पर यह यथार्थ है। मनुष्य अपनी प्रवृत्ति ही से इसको जानता है। वह नवयुवक बच्चे में धार्मिक भाव या

उसी भावना की आशा नहीं करता जिसकी आशा वह बड़े और विकसित सभ्य मनुष्य में करता है। वह बच्चे और वहशी को आत्मरक्षा या सब के कल्याण के लिये रोक में रखता है परन्तु वह इनके और बड़े मनुष्यों के अन्तर को समझता है, या कम से कम उसे समझना चाहिये। केवल इतना ही नहीं किन्तु मनुष्य ज्यों २ सोपान पर ऊपर चढ़ता है त्यों २ वह अनेक पापों की भावनाओं को, जिन्हें वह धारण किये था, छोड़ता जाता है, क्योंकि उन भावनाओं को अब वह पार कर गया और अब उसने नयी विभावनाओं में प्रवेश किया है। गति सर्वदा ऊपर और आगे की ओर होती है। गति सर्वदा बल और रोक से प्रेम और छुटकारे की ओर होती है। आदर्श अवस्था तो वह होती जब नियम और उसकी आवश्यकता ही न होती, मनुष्य पाप करना ही छोड़ देते, रोक और कल के भय से नहीं, किन्तु पाप की कामनाओं को पार कर जाने के कारण। परन्तु जब तक यह अवस्था अभी दूर की बात है, तब तक मन की ऊंची शक्तियों और उसके ऊंचे लोकों का क्रमशः लगातार विकास हो रहा है, और जब यह विकास पूरा हो जायगा तब नैतिक आचरण, कानून और गवर्नमेंट में काया-पलट हो जायगा, बेहतरी के लिये, इसमें सन्देह नहीं। तब तक मनुष्य आगे बढ़ रहा है, यथासाध्य उत्तम कार्य कर रहा है, और शनैः २ स्थिर उन्नति कर रहा है।

मन का एक और लोक है जिसे बहुधा प्रवृत्ति कहते हैं परन्तु यह बुद्धि लोक ही का एक भाग है, यद्यपि इसकी क्रियाएँ चेतनाक्षेत्र के नीचे अधिकतर हुआ करती हैं। हमारा

अभिप्राय "अभ्यास मन" से है कि आप इसे प्रवृत्ति से पृथक् पहचान सकें। दोनों में अन्तर ... मन का प्रवृत्ति-लोक मन की बुद्धि के नीचे की ... की अ... ... ना है तो भी वह वनस्पति-मन से ऊंचा है। इ... देने ... ति ... त किये वे अनुभव हैं जो पैत्रिक प्रणाली से ... चों का आते ... "अभ्यास मन" (अर्थात् आदत मन) में वे ... कि कि ... जिन्हें मनुष्य ... प्रकार आप वहाँ रक्खा है और ... आप को ने अनुभ... र्य होगा। अर्थात् आदत और निरीक्षण ... भी हम लोगों में अवधान को बार २ इतना करता आया ... ण मनुष्य यह भी नहीं जानता प्रकृति होकर चेतना के नीचे अँगरखा पहनता है, पहले किस

मानसिक क्रियाओं के "अभ्या... को पकड़े रहता है इत्यादि। मनोविज्ञान की मूल पुस्तकें भरी पड़ी हैं, बहुत अच्छी तरह उदाहरणों को यहां नहीं दुहराया चाहते। ... अपने अँगरखे को बात से अभिज्ञ है कि जो कार्य अधिक उद्योग ... सार पहनो। लगा कर पहले सीखा जाता है वह शीघ्र ही मन के ... पहनो, अंग में ऐसा अङ्कित हो जाता है कि तनिक सी सचेतन मानसिक क्रिया से वह कार्य बहुत ही सरलतापूर्वक होने लगता है। इसी लिये कुछ लेखकों ने ऐसा लिखा है कि उस सीखने को सीखना नहीं कहते जिसमें कार्य आप से आप तनिक सी प्रेरणा से न होने लगे। जो शिष्य पियानो बजाने में अपनी अंगुलियों पर शासन और अधिकार रखने में अत्यन्त कठिनाई पाता है, वही थोड़े दिन के अभ्यास के बाद अपनी अंगुलियों पर अवधान ही नहीं देता और सारा अवधान अपनी संगीत की किताब के पन्नों पर लगाये रहता है और अंगुलियाँ

उसकी आप से आप संगीत के सारे टुकड़े को बजा जाती हैं
और उन पर तनिक भी अवधान की आवश्यकता नहीं होती।
अच्छे बजाने वाले कहते हैं कि ऊंचे से ऊंचे यत्न के क्षणों में
वे अभिज्ञ हैं कि चेतना के अन्त का मन उनके लिये सारा
या कम से ... कर रहा है, और वे ... रह कर कार्य को होता हुआ
किन्तु मनुष्य ज्यों ...। यह बात ... ऊपर ... है कि कुछ हालतों में ऐसा
अनेक पापों की भाव... कि ... जिन्हें ... का चेतन मन अपने हाथ
छोड़ता जाता है, क्योंकि उन भावनाओं ... जाता है और स्वयम् बजाने
गया और अब उसने नयी विभावनाओं ... को पहचान जाते हैं।
सर्वदा ऊपर और आगे की ओर होती में भी सत्य है जो सीने की कल
और रोक से प्रेम और छुटकारे की। पहले तो यह कार्य बड़ा कठिन
अवस्था तो वह होती जब नि... क्रमशः वह आप से आप होने लगता
ही न होती, मनुष्य पाप कर टाइप करना सीखा है उनको भी इसी
के भय से नहीं, किन्तु ... कठिनता जान पड़ी है पीछे वह कार्य बहुत
के कारण। ... सरल हो गया है। पहले प्रत्येक अक्षर बड़ी सावधानी
है, तन और बड़े यत्न से चुनना पड़ता है। पश्चात् टाइप करनेवाले
क को अपना अवधान कार्य ही पर रखना होता है और अंगु-
लियाँ आप से आप अक्षरों से काम ले लेती हैं। बहुत से
टाइपिस्ट शीघ्र टाइप करना इस प्रकार अपने अभ्यास मन
को शिक्षा देने से सीखते हैं कि अभ्यास मन अक्षरों को उन
की स्थिति ही से चुन लेता है। अक्षर सब ढँके रहते हैं कि
मन को प्रेरणा मिले कि ढँके अक्षरों की स्थिति को पहचान
ले। यही दशा उन सब अवस्थाओं में होती है जब मनुष्य
किसी भी औजार का व्यवहार करता है। मन औजार को

पहचान लेता है और उसी प्रकार उसका व्यवहार करता है मानो औजार भी शरीर ही का एक अंग है, और उस औजार के व्यवहार में ख्याल जमाने की उसी प्रकार आवश्यकता नहीं होती जैसे चलने में मनोयोग देने की आवश्यकता नहीं होती, जिस चलने के सीखने में बच्चों का बहुत समय और परिश्रम लगता है। जब आप सोचेंगे कि कितने काम आप इस प्रकार आप से आप कर लेते हैं तो आप को बड़ा आश्चर्य होगा। लेखकों ने तो इस बात पर भी हम लोगों में अवधान को आकर्षित किया है कि साधारण मनुष्य यह भी नहीं जानता कि सुबह वह कैसे अपना अँगरखा पहनता है, पहले किस बाँह को पहनता है और कैसे कोट को पकड़े रहता है इत्यादि। परन्तु अभ्यास-मन इसको जानता है, बहुत अच्छी तरह जानता है। हे शिष्य! खड़े हो जाओ और अपने अँगरखे को नित्य की भाँति अभ्यास-मन की प्रेरणा के अनुसार पहनो। फिर अँगरखे को उतार देने के पश्चात् दूसरी तरह पहनो, अर्थात् दूसरी बाँह पहले पहनो। अब तुम्हें अचरज मालूम होगा कि कैसा अनकुस सा पहनते समय मालूम होता है। अब आप समझ गये होंगे कि अभ्यास-मन पर कैसा पूरा आपका अवलम्बन है। इसी प्रकार सब बातों में समझ लीजिये।

अभ्यासमन केवल दैहिक ही कार्यों को नहीं सँभालता, यह मानसिक क्रियाओं में भी हाथ लगाता है। हम बहुत शीघ्र चेतनापूर्वक सोचना छोड़ देने की आदत ग्रहण कर लेते हैं, और अभ्यासमन उस विषय को उठा लेता है, तब हम आप से आप उन विषयों पर सोचने लगेंगे जब तक दूसरे के

मन द्वारा छेड़े न जायँगे या जब तक कोई विपरीत भावना अपने ही अनुभव तथा तार्किक प्रक्रियाओं से न उपस्थित हो जायगी। अभ्यास-मन छेड़े जाने अथवा अपनी ही भावना को दुहराने से घृणा करता है। वह इसके विपरीत लड़ जाता है, बागी हो बैठता है, और परिणाम यह होता है कि हममें से अनेक मनुष्य उन पुरानी भावनाओं के दास से हो गये हैं, जिन्हें हम झूठी भी समझते हैं पर जिनको हटाना हमारे लिये कठिन कार्य हो जाता है। अपने आगे के पाठों में हम इन पुरानी भावनाओं को दूर करने के उपाय बतलावेंगे।

मन के और भी लोक हैं जिनका सम्बन्ध उन दृश्यों से है जिन्हें मानसिक दृश्य कहते हैं, और जिनसे हमारा अभिप्राय दिव्य दृष्टि, परचित ज्ञान आदि से है, परन्तु इस पाठ में हम उन पर विचार न करेंगे, क्योंकि वे इस विषय के अन्य भाग से सम्बन्ध रखते हैं।

अब हम मन के उस लोक के विषय पर आते हैं जिसे बुद्धि वा तर्कशक्ति कहते हैं। बुद्धि जीव का वह भाग या शक्ति है जिससे वह जानता है। यह आकांक्षा और वेदना की शक्ति से पृथक है। वह सोचनेवाली शक्ति अर्थात् समझ है। तर्कशक्ति मनुष्य के मन के उस सामर्थ्य को कहते हैं जिसके द्वारा वह नीच समझवाले पशुओं से ऊपर की श्रेणी में समझा जाता है। हम सचेतन बुद्धि का सविस्तर विचार न करेंगे क्योंकि ऐसा करने में अगले पाठों का स्थान लिया जायगा और इसके अतिरिक्त शिष्य लोग इस विषय का सविस्तर वर्णन मनोविज्ञान के किसी मूल ग्रन्थ में पा सकते हैं। इसके स्थान

पर हम मन की और शक्तियों और उसके और लोकों का विचार करेंगे जिनको मनोविज्ञान के उक्त ग्रन्थ छोड़ जाते हैं या अस्वीकार करते हैं। उन लोकों में से एक अचेतन तर्क या अचेतन बुद्धि है। बहुतों को यह शब्द कूट या विरोधाभासी प्रतीत होगा, परन्तु अचेतन के अध्ययन करनेवाले समझ जायँगे कि इसका क्या अर्थ है।

तर्क अपनी क्रियाओं में सर्वदा सचेतन ही नहीं हुआ करता। सच तो यह है कि तर्क की अधिकांश प्रक्रियाएँ सचेतन क्षेत्र के ऊपर या नीचे हुआ करती हैं। अपने पिछले पाठ में हमने अनेक उदाहरण इसी बात के सिद्ध करने में दिये हैं, परन्तु कुछ और भी विवरण दे देना अनवसर या शिष्य के लिये रोचकता से हीन न होगा।

पिछले पाठ में आपने अनेक उदाहरण इस बात के देखे हैं कि बुद्धि अनुद्बुद्ध या अचेतन क्षेत्र प्रश्नों को हल कर देता है और थोड़े अर्से के बाद उस हल करने के परिणाम को सचेतन बुद्धि को सपुर्द कर देता है। यह बात हममें से, यदि सब के नहीं तो, बहुतों के अनुभव में आई है; किसने किसी साध्य या प्रश्न के साधन में यत्न किया है और उसे छोड़ देने पर फिर उसी प्रश्न का साधन एक समय में उसकी चेतना पर नहीं झलक पड़ा है, जब उसकी कुछ भी आशा न थी। यह अनुभव थोड़ा बहुत सभी को होता है। हममें से अधिकांश मनुष्य इन बातों को देखा करते हैं और इन्हें आकस्मिक और अनरीति की घटना समझते हैं। परन्तु मानसिक लोकों के अध्ययनकारियों के लिये ये बातें आकस्मिक नहीं

हैं। उन लोगों ने बुद्धि के इन लोकों को समझ लिया है और इन अचेतन शक्तियों से काम ले ले कर इनके ज्ञान से लाभ उठाया है। अगले पाठ में हम अपने शिष्यों को इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने के लिये उपदेश देंगे और जो लोग उस उपदेश के अनुसार अभ्यास करेंगे उनको बहुत ही अधिक लाभ होगा। यह वह तरीका है जो उन बहुत से मनुष्यों को विदित है, जो इस संसार में बहुत काम कर चुके हैं। उन मनुष्यों ने इसे आप ही आप आविष्कार किया है। मन की भीतरी शक्तियों पर जब दबाव पड़ा है तो यह तरीका निकल पड़ा है।

बुद्धि के ठीक ऊपर मन का वह लोक है जिसे प्रतिभा कहते हैं। यह सीधे समझ या जान जाना है। यह बिना तर्क का वैसा ही अव्यवहित ज्ञान है जैसा चेतना या प्रत्यक्ष ज्ञान होते हैं, यह तत्काल अन्तर्दृष्टि या समझ प्राप्त कर लेना है। प्रतिभा का क्या अर्थ है, इसका समझाना सिवाय उन लोगों के जिन्हें इसका अनुभव है, अन्यों को कठिन है। जिन्हें इसका अनुभव है, उन्हें इसके समझाने की आवश्यकता ही नहीं है। प्रतिभा भी वैसी ही वास्तविक मानसिक शक्ति है जैसी बुद्धि है। प्रतिभा चेतना क्षेत्र के ऊपर है और इसके सन्देश नीचे की ओर आते हैं, यद्यपि इसकी क्रियाएँ छिपी रहती हैं। मनुष्य जाति धीरे २ प्रतिभा के मानसिक लोक में विकसित हो रही है और कुछ ही दिनों में इस लोक में पूरी चेतना में प्रविष्ट हो जावेगी। तब तक छिपे क्षेत्र से झलकों और झांकियों को यह पा जाती है। हमारी बहुत सी सर्वोत्तम

बातें इसी क्षेत्र से आती हैं। कलाकौशल, संगीत, साहित्य प्रेम, उच्च कोटि का प्रेम, कुछ आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि, सत्य की अव्यवहित पहचान आदि बातें इसी क्षेत्र से आती हैं। इन बातों को बुद्धि अपने तर्क द्वारा नहीं प्रगट करती, परन्तु ये बातें मन के किसी अज्ञात क्षेत्र से आप से आप उतर पड़ती हैं।

इसी अद्भुत लोक में पराबुद्धि रहती है। यदि कुल नहीं तो बहुत से बड़े २ लेखक, कवि, संगीतवेत्ता, कलाकौशल-वाले और अन्य बड़े मनुष्यों ने अनुभव किया है कि उनकी शक्ति किसी उच्च स्थान से उन्हें प्राप्त हुई है। बहुतों ने समझा है कि किसी उस ऊँची कृपालु सत्ता से यह उत्पन्न हुई है जिसने कृपा करके हमें यह शक्ति दे दी है। कोई सर्वातीत शक्ति संचालित हुई है, और कार्यकर्ता अपने कार्य के विषय में अनुभव करता है कि यह हमारा किया कार्य नहीं है, किन्तु किसी बाहरी उच्च सत्ता का कार्य है। यूनानी लोग मनुष्य के भीतर की इस "किसी सत्ता" को जानते थे और उसे "डीमन" कहते थे। प्लूटार्क उस 'डीमन' के विषय में, जो साक्रेटीज का पथ प्रदर्शन करता था, वर्णन करते हुए कहता है कि टिमार्कस ने ट्रोफिनियस के सम्बन्ध में ऐसा दृश्य देखा कि जीवात्माएँ कुछ भाग से तो मनुष्य के शरीर में पैठीं और कुछ भाग से उनके सिरों के ऊपर बड़े प्रकाश से चमक रही हैं। देव वाक्य ने उसे यह समझाया कि जीवात्मा का वह भाग, जो मनुष्य में प्रविष्ट था, जीव था, और बाहरी तथा अप्रविष्ट भाग डीमन था। देव वाक्य ने यह भी बतलाया कि प्रत्येक मनुष्य के डीमन होता है, जिसका आज्ञानुवर्ती होना आवश्यक

है । जो लोग उस पथ प्रदर्शन का अनुसरण करते हैं वे बड़भागी जीव हैं और देवताओं के प्यारे हैं । गोएथी भी डीमन के विषय में कहता है कि यह शक्ति आकांक्षाशक्ति से ऊपर है और किसी मनुष्य में दैवी शक्ति फूँक देती है ।

हम इन भावनाओं पर हँसते हैं, परन्तु ये भावनाएँ यथार्थ के बहुत निकट हैं । मन के उच्च लोक, यद्यपि मनुष्य ही के हैं, और उसीके अंग हैं, पर तौभी वे इसकी साधारण चेतना से इतने ऊँचे के लोक हैं कि वहाँ का सन्देश अन्य उच्च सत्ता (देवता इत्यादि) की आज्ञा सा जान पड़ता है । परन्तु वह वाणी "अहम्" ही की है जो आवरणों में से अपने सामर्थ्य भर बोल रहा है ।

यह शक्ति हम लोगों में से प्रत्येक को है, यद्यपि यह केवल उसी मात्रा में प्रगट होती है जितना हम उसकी ओर सावधान होने में समर्थ होते हैं । यह श्रद्धा और विश्वास से बढ़ती है, परन्तु जब हम इस पर संशय करते हैं, और इसकी सत्यता और यथार्थता पर शंका करते हैं तब यह संकुचित हो जाती है और खिंच कर अपने कोनों में जा रहती है । जिसे हम मौलिकता कहते हैं, वह इसी लोक से आती है । प्रतिभाशक्तियाँ कुछ ऐसी सत्य बातों को सचेतन मन में छोड़ देती हैं, जो उन बातों से ऊंची होती हैं, जिन्हें बुद्धि प्रगट करती है तब हम उस अलौकिक शक्ति का कार्य कहते हैं ।

बड़े २ रहस्यवेत्ता लोग जानते हैं कि मन के उच्च क्षेत्रों में सब यथार्थता का प्रतिभाजात प्रत्यक्ष बन्द है, और जिस मनुष्य की पहुँच इन क्षेत्रों तक हो जाती है वह प्रत्येक बात

को प्रतिभा ही से जान जाता है और स्पष्ट दृश्य की भाँति बिना तर्क या व्याख्या ही के देख लेता है। मनुष्य जाति अभी तक प्रतिभा के उच्च शिखरों तक नहीं पहुँची है, इसने अभी चढ़ाई शुरू की है। परन्तु यह सीधे मार्ग पर जा रही है। यदि हम अपने को उच्च भीतरी प्रेरणा के लिये खोल रक्खें तो हमारे लिये बहुत ही अच्छी बात होगी। हमें आत्मा का अनुयायी होना चाहिये। आत्मा का अनुयायी होना बाहरी बुद्धि के अनुयायी होने से बिलकुल ही भिन्न है। बुद्धि नेतृत्व करने में समर्थ हो सकती है और नहीं भी हो सकती है। परन्तु हममें से प्रत्येक के भीतर जो आत्मा है, वह हमारा हितैषी है और हमारी भलाई का इच्छुक है और हमारा हाथ पकड़ कर लिवा चलने के लिये केवल तय्यार ही नहीं किन्तु इच्छुक भी है। उच्च आत्मा यथासाध्य हमारे विकास और भलाई के लिये अच्छी से अच्छी बातें कर रहा है परन्तु इसके कार्यों में बन्धनकारी आवरणों से बाधा पड़ती है। शोक है कि हममें से बहुत से लोग इन्हीं आवरणों ही का अभिमान करते हैं और इन्हें अपने आपे का उच्चतम भाग समझते हैं। आत्मा का प्रकाश इन आवरणों में प्रवेश करके इन्हें नष्ट कर तो भयभीत मत हूजिये। प्रतिभा आत्मा नहीं है, परन्तु हमसे आत्मा का लगाव रहने का एक मार्ग है। और भी ऊंचे २ मन के लोक हैं परन्तु विकास के पथ पर सब से निकटस्थ प्रतिभा ही है। हमको अपने तई उसके प्रभाव के लिये और उसके विकास का स्वागत करने के लिये खुला रहना चाहिये।

प्रतिभा-लोक के ऊपर विश्वज्ञान का लोक है जहाँ सब की एकता की चेतना होती है। हम चेतना के विकास विषयक पाठ में इस लोक का वर्णन कर आये हैं। जब कोई मनुष्य इस लोक की चेतना तक पहुँच जाता है—मन के इस उच्च लोक तक-तब वह इस बात को स्पष्ट पूरा २ देखने में समर्थ हो जाता है कि अभिव्यक्ति के अनगिनत रूपों और सूरतों में एक महत् जीवन व्याप रहा है। वह देख सकता है कि भेद और पृथकता विश्व की केवल कार्यकारिणी माया है। वह देख सकता है कि प्रत्येक जीव उस जीवन के महा समुद्र में चेतना का एक केन्द्र है—यह सब उस दैवी उद्देश्य के अनुसार है। वह यह भी देख सकता है कि हम अभिव्यक्ति के ऊँचे और ऊँचे लोकों—शक्ति और व्यक्तित्व—की ओर जा रहे हैं जिससे विश्वकार्य और उद्देश्य में बड़ा २ भाग ले सकें।

मनुष्य जाति के बहुत ही कम लोगों को यह विश्वज्ञान प्राप्त हुआ है, परन्तु बहुतों को कम या ज्यादा स्पष्ट झाँकियाँ उसके अलौकिक आश्चर्य की प्राप्त हुई हैं और बहुत लोग उस लोक की सीमा तक पहुँच गये हैं। मनुष्य जाति क्रमशः स्थिरता परन्तु दृढ़ता से विकास पा रही है, और जो लोग इस अद्भुत अनुभव को प्राप्त हो गये हैं वे दूसरों को इसी अनुभव के लिये तैयार कर रहे हैं। बीज बोया जा रहा है कुछ समय के पश्चात तब लुनाई होगी। मनुष्य जाति के सम्मुख यह और अन्य उच्च चेतना के पटल उपस्थित हैं। जो मनुष्य इस पाठ को पढ़ रहे हैं वे अपने ख्याल की अपेक्षा और भी अधिक समीप पहुँच गये हैं। इस पाठ में मनोयोग देना जीव

की उस भूख का द्योतक है जो भविष्यद्वाणी है कि आध्यात्मिक रोटी की पुकार सुनी जायगी और भूख बुझाई जायगी। जीवन का नियम सहायता और पोषण की इन पुकारों को सुनता है और इनके अनुसार कार्य करता है, पर उच्चतम ज्ञान के ही पथ पर और व्यक्ति की वास्तविक आवश्यकता के अनुसार ही काम करता है।

अब हम "पथ में प्रकाश" नामक किताब के उस खंड को उद्धृत करके, जो इस समाप्ति के विचारों से सम्बन्ध रखता है, इस पाठ को समाप्त करते हैं। इसको अच्छी तरह पढ़िये और इसे अपनी भीतरी चेतना में प्रवेश कर जाने दीजिये, तब आपको पुलकित कर देनेवाला वह आनन्द होगा, जो उन लोगों को प्राप्त होता है जो सिद्धि के निकट पहुँच रहे हैं।

"उस फूल के खिलने की आशा पर दृष्टि लगाओ जो तूफान के बाद शान्ति में खिलेगा और उसके पहले नहीं।

"वह उगेगा, अंकुर ऊपर बढ़ायेगा, वह डालियाँ और पत्तियाँ फेंकेगा और कलियाँ प्रगट करेगा। तूफान रहते ये सब बातें हो सकती हैं। परन्तु जब तक मनुष्य का सारा व्यक्तित्व (शखसियत, नफस) पिघल कर गल न जायगा—जब तक वह दैवी खंड इसे धारण किये रहेगा जिसने इसे उत्पन्न किया है तब तक नहीं खिलेगा—तब तक भी नहीं जब तक कि सारी प्रवृत्ति अपने ऊँचे आपे के वश में न आ जाय—तब तक यह फूल न खिलेगा। तब वह शान्ति आवेगी जो गरम देशों में वृष्टि के बाद आती है, जब प्रकृति इस तेजी के साथ काम

करती है कि मनुष्य उसे देखता ही रहे। संतापित जीव पर वैसी ही शान्ति आवेगी। और गम्भीर नीरव में वह अद्भुत घटना घटेगी जिससे सिद्ध होगा कि मार्ग मिल गया। इसे जिस नाम से चाहिये पुकारिये। यह वाणी वहाँ बोलती है जहाँ कोई बोलने वाला नहीं है, यह वह सन्देशवाहक आता है, जिसके न रूप है न तत्व—यह जीव का पुष्प है जो खिल गया है। इसका वर्णन किसी उपमा द्वारा नहीं किया जा सकता, परन्तु इसका अनुभव हो सकता है, इसकी आशा कामना—तूफान के प्रबल रहते हुए भी की जा सकती है। शान्ति चाहे क्षण ही भर ठहरे, चाहे सहस्रों वर्ष ठहरे, पर उसकी समाप्ति हो जायगी, पर तौभी उसकी शक्ति तुम्हारे साथ बनी रहेगी। बार २ युद्ध करना और जीतना होगा। यह थोड़े ही समय के लिये हो सकता है कि प्रकृति स्थिर रहे।"

इस किताब की समाप्ति के तीन पाठ मन के गुप्त लोकों के विकास की क्रियात्मक शिक्षा में लगाये जायँगे अथवा मनुष्य की शक्ति के उस विकास में लगाये जायँगे कि जिससे वह उन्हें अधिकार में ला सके और अपने जीवन में उनसे काम ले सके। नीच तत्वों पर अधिकार करने की शिक्षा दी जावेगी केवल उन्हें वश ही में करने की नहीं, किन्तु इन आदि शक्तियों को उच्च उद्देश्यों की ओर संचालित करने की। आकांक्षा की प्रेरणा से मन के इस भाग से भी शक्ति प्राप्त हो सकती है। शिष्य को यह भी बतलाया जायगा कि अचेतन बुद्धि को कैसे अपने लिये काम में लगा सकते हैं। आकांक्षा के विकाश और शिक्षा का भी उपदेश दिया जायगा। अब

हम लोग इस विषय की युक्त्यात्मक और क्रियात्मक पटलों के बीच की सीमा के पार आ गये हैं, और अब यहाँ से आगे सिखाने, विकसाने, जगाने और लगे रहने का मामला होगा। इस बात को जान कर कि सब के मूल में क्या है अब शिष्य उन शिक्षाओं का अधिकारी हो गया जिनका दुर्व्यवहार कर सकता था। आप सब के साथ शान्ति रहे।

मंत्र।

मैं अपने जीव का स्वामी हूँ।

दसवाँ पाठ

अनुद्बोधन

नवें पाठ में हम आप के अवधान को इस बात की ओर आकर्षित कर चुके हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि बुद्धि सर्वदा अपने कार्यों में सचेतन ही हुआ करे और वस्तुतः मन की बुद्धि सम्बन्धी क्रियाओं का अधिक भाग चेतनाक्षेत्र के नीचे हुआ करता है। आठवें पाठ में इस बात के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। हम अनेक उदाहरण इस बात के दे आये हैं कि बुद्धि का अनुद्बुद्धक्षेत्र प्रश्नों को हल कर सकता है और तब थोड़े समय बाद उस विषय के हल को बुद्धि के हवाले कर देता है। इस पाठ में हमारा उद्देश्य आपको उन उपायों के बतलाने का है जिनसे बुद्धि का यह भाग आप के लिये कार्य में लगाया जा सके। बहुत से लोग आपसे आप इस उपाय को पा गये हैं और वास्तव में अधिकांश सफल मनुष्य और उन मनुष्यों ने जिन्होंने जीवन के किसी विभाग में बड़प्पन प्राप्त किया है कमोबेश इस बात का व्यवहार किया है, यद्यपि वे इसके कारण को नहीं समझते।

मन के इस लोक के कार्य को बहुत ही कम पश्चिमी लेखक जान सके। वे प्रवृत्तिमानस की क्रियाओं की पूरी और सुपटु युक्तियाँ और उदाहरण देते हैं, और कहीं २ वे प्रतिभालोकों के कार्यों और क्रियाओं के विषय में भी कुछ कह देते

हैं, परन्तु प्रायः सभी दशाओं में वे बुद्धि को मनन के उद्‌बुद्ध लोक ही में परिमित समझते रहे। इस लिये वे मनन के रोचक और बहुमूल्य अनुद्‌बुद्ध आविर्भावों को खो बैठे।

इस पाठ में हम मनन के इस पटल को लेंगे और विश्वास करते हैं कि उसके सम्यक प्रयोग का मार्ग बतला सकें और ऐसी शिक्षाएँ दें जो हिन्दू आचार्यों द्वारा अपने शिष्यों को शताब्दियों से दी जाती हैं। इन शिक्षाओं में हम इतना परिवर्तन अवश्य करेंगे कि जिससे वे अब की आवश्यकताओं के अनुकूल हो सकें।

हमने मनन के इस पटल को नया नाम दिया है—हमने इसे अनुद्बोधन कहना उचित समझा है; "अन्" का अर्थ "नहीं" है और उद्बोधन का अर्थ "सचेतन ज्ञान होना" है। इस लिये अनुद्बोधन शब्द का प्रयोग मैंने इस अर्थ में किया है कि ज्ञान तो हो पर सचेतन न हो अर्थात् सचेतन मन की प्रेरणा से अनुद्‌बुद्ध मन का प्रयोग किया जाय।

आप आठवें पाठ के सब उदाहरणों में इस बात को पावेंगे कि जिन लोगों ने अनुद्‌बुद्ध मन से सहायता पाने के उदाहरणों को दिया है वे अकस्मात् इस बात को पा गये थे कि चेतना के नीचे भी मन का एक भाग है जो हमारे लिये प्रश्नों को हल कर सकता है यदि वह किसी प्रकार कार्य में लगाया जा सके, और ये लोग मन के उस भाग को काम में लगाने में भाग्य पर भरोसा करते थे। अथवा वे अपने उद्‌बुद्ध मन को बहुत सी बातों से उसी प्रकार भर देते थे जैसे कोई आमाशय में बहुत सा भोजन भर दे, और तब वे अनुद्-

बुद्ध मन को उस मानसिक भोजन को अलगाने, श्रेणीबद्ध करने और पचाने को कहते थे कि तुम चेतनाक्षेत्र या इच्छा-क्षेत्र के बाहर इन कार्यों को करो। किसी उदाहरण में अनुद्-बुद्ध मन को विशेष प्रेरणा नहीं की गई है कि तुम अपने अद्भुत कार्य को करो। केवल यही आशा की जाती थी कि वह उस मानसिक सामग्री को पचा डालेगा जो उसे दी गई है, केवल आत्मरक्षा ही के लिये। परन्तु इससे कहीं बढ़ कर अच्छा उपाय है और हम वही उपाय आप को बतलाना चाहते हैं।

हिन्दू योगी अथवा वे लोग जो अपने शिष्यों को राज-योग की शिक्षा देते हैं, अपने शिष्यों को यह उपदेश देते हैं कि वे अपने अनुद्बुद्ध मन को प्रेरणा दें कि वह उनके लिये मानसिक कार्य कर दिया करे, जैसे एक मनुष्य दूसरे को प्रेरणा करता है कि तुम अमुक २ कार्य कर डालो। योगी लोग शिष्य को वे उपाय बतलाते हैं जिनके द्वारा, शिष्य लोग आवश्यक सामग्री एकत्रित करके अनुद्बुद्ध मन से उसे श्रेणीबद्ध कराते हैं और उसमें से इंष्ट ज्ञान निकलवाते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपने शिष्यों को यह सिखाते हैं कि अनु-द्बुद्ध मन को आज्ञा दो और प्रेरणा करो कि मन के भीतर से ढूँढ़ कर अमुक मानसिक बात का ज्ञान तुम को दे, जो ज्ञान कि केवल मन ही में प्राप्त हो सकता है, जैसे कोई दर्शन या पराविद्या सम्बन्धी प्रश्न। जब यह कला प्राप्त हो जाती है तब शिष्य वा योगी निश्चिन्त हो जाता है कि उचित समय पर अभीष्ट फल अवश्य प्राप्त होगा और इस

लिये वे सचेत मन से उस विषय को हटा देते हैं और दूसरी बातों में लग जाते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि रात दिन बोध-हीन मानसिक क्रियाएँ हुआ करती हैं और अनुद्बुद्ध मन सामग्री एकत्र करने तथा प्रश्न के साधन में लगा हुआ है।

आठवें पाठ में जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें केवल आशा ही की जाती थी कि ऐसा हो जायगा, पर योगी की शिक्षा में काम कराने की तदबीर बतलाई जाती है। यही दोनों तरीकों में अन्तर है।

योगी पहले अपने शिष्य को यह सिखाता है कि मन में यह सामर्थ्य है कि वह किसी भौतिक या मानसिक वस्तु में जा लगे और अपने आन्तरिक उपायों से उस वस्तु को जांचे, और उस वस्तु से ज्ञान खींचे। यह चमत्कारी की बात नहीं है, क्योंकि यह साधारण बात है, प्रत्येक मनुष्य नित्य इसका व्यवहार करता है। परन्तु वह प्रक्रिया जिसके द्वारा ज्ञान खींचा जाता है बहुत ही आश्चर्यजनक है। सचेत मन का तो इतना ही कार्य है कि अवधान को उस वस्तु पर लगाये रहे। हम अवधान की महिमा पहले के पाठों में कह आये हैं, जिसे इस समय फिर पढ़ लेना आपके लिये लाभ-दायक होगा।

जब शिष्य अवधान की प्रक्रियाओं के पूरे विवरण से और फिर तदनुसार ज्ञान के विकाश से अभिज्ञ हो जाता है तब योगी उसे आगे सिखलाता है कि किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्त करने के और भी साधन हैं, जिनके प्रयोग से अवधान बड़ी दृढ़ता से उस वस्तु की ओर प्रेरित किया जाता है और

तब अचेतन रूप से वहाँ ही छोड़ दिया जाता है अर्थात् अवधान का एक भाग अथवा मनन का अनुद्बुद्ध पटल उस वस्तु में छोड़ दिया जाता है जो अनुद्बुद्ध मन को वहाँ ही तब तक लगाये रहेगा जब तक कार्य सिद्ध न होगा, और अवधान तथा मन छुट्टा रहेगा कि इसे जहाँ चाहें वहाँ लगावें।

योगी लोग अपने शिष्यों को सिखलाते हैं कि अवधान का यह पटल सचेतन अवधान की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र और शक्तिमान होता है, क्योंकि इसमें विक्षेप नहीं हो सकता और न यह अपनी वस्तु से हटाया जा सकता। यह अपने कार्य में दिनों, महीनों, बरसों और आवश्यक हो तो जीवन काल तक, कार्य की कठिनता के अनुसार, लगा रहेगा, या अपने कार्य को एक जन्म से अन्य जन्म को ले जावेगा जब तक आकांक्षा द्वारा कार्य से लौटाया न जावेगा। योगी अपने शिष्यों को समझाते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में यह अचेतन क्रिया थोड़ी बहुत जारी है, जो किसी पूर्वजन्म की आविर्भूत प्रबल ज्ञान लालसा के आज्ञानुसार जारी चली आती है और वर्तमान अस्तित्व में फलवती हो रही है। इसी नियम के अनुसार बड़े २ आविष्कार हुए हैं। परन्तु हम इस पाठ में विषय के इस पटल का वर्णन न करेंगे।

योगियों की यह धारण है कि अचेतन बुद्धि-शक्ति, आकांक्षा की आज्ञा या प्रेरणा कार्य में लगाई जा सकती है। आप सब लोग जानते हैं कि कैसे अचेतन मन आकांक्षा की आज्ञाओं या प्रबल कामनाओं को ग्रहण कर लेता है कि अमुक समय पर मनुष्य जग जावे क्योंकि उसे रेलवे ट्रेन पर जाना है,

या जब किसी कार्य के लिये कोई समय निश्चित ठहराया गया रहता है तो ठीक उसी समय पर घड़ी की सूई आते २ अचेतन मन मनुष्य को होशियार कर देता है कि अब अमुक कार्य करना है। प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव की ऐसी घटनाओं को स्मरण कर सकता है।

योगी लोग इससे भी बहुत आगे जाते हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि मन की सब शक्तियाँ संचालित हो सकती हैं और किसी साध्य के साधन में लग सकती हैं यदि आकांक्षा उन्हें आज्ञा दे। वास्तव में योगियों और उनके उच्च शिष्यों ने इस कला को इस आश्चर्यजनक सीमा तक सिद्ध कर लिया है कि वे सचेतन क्षेत्र में सोचना विचारना बेगार समझते हैं और ऐसे मानसिक कार्यों को अनुद्बुद्ध मन के हवाले कर देते हैं, और अपने सचेतन मन को उस विचार में लगाते हैं जिसके सम्मुख अचेतन मन अपने पचाये हुए ज्ञान और विचारों को उपस्थित करता है।

योगियों की इस विषय की शिक्षा बहुत विस्तृत होती है और बहुत दिन तक हुआ करती है। बहुत सी शिक्षाएँ तो बड़ी ही पेचीदा और बारीकियों से भरी हैं। परन्तु हमारा ख्याल है कि हम अपने शिष्यों को इस पाठ के थोड़े ही सफहों में संक्षिप्त भावना दे सकते हैं और इस ग्रन्थ के अन्य पाठों से भी, इस अचेतन मानसिक क्रिया के विषय पर भी, अन्य विषयों के साथ साथ, प्रकाश पड़ेगा।

योगी अपने शिष्य को उस समय यह शिक्षा देता है जब शिष्य वेदान्त के किसी गूढ़ और पेचीदा विषय के सोचने में

बहुत व्यग्र रहता है। वह शिष्य को आज्ञा देता है कि "प्रत्येक मांसपेशी को ढीला करो, प्रत्येक नाड़ी में से तनाव खींच लो, सब मानसिक खिंचाव को अलग कर दो और तब कुछ क्षण तक ठहर जाना। अब उस विषय को ग्रहण करो जो तुम्हारे मन के सम्मुख उपस्थित है। मन की एकाग्रता द्वारा उस विषय को दृढ़ और स्थिर धारण करो। अब आकांक्षा की प्रेरणा द्वारा उसे अनुद्बुद्ध मन में छोड़ दो। यह तब हो सकेगा जब उस विषय की मानसिक मूर्त्ति, भौतिक पदार्थ अथवा विचारों को गठरी की भांति बना लोगे और उस मूर्त्ति या गठरी को उठाकर अचेतन मन की कोठरी में छोड़ दोगे कि वह अदृष्ट होकर उस कोठरी में डूब जाय। अब अचेतन मन से कहो कि मैं इस विषय को अच्छी तरह से विश्लेषित, सुस्थापित, श्रेणीबद्ध (और जैसा अभीष्ट हो) होकर प्रतिफल चाहता हूँ। इस पर सावधान हो।"

शिष्य को सिखलाया जाता है कि अनुद्बुद्ध मन से इस प्रकार कहे मानो वह कोई पृथक् सत्ता है जो काम में लगाई जा रही है। यह भी शिक्षा दी जाती है कि इस प्रक्रिया में विश्वासपूर्वक आशा करना मुख्य अंग है। और सफलता की मात्रा इसी विश्वासपूर्वक आशा की मात्रा पर अवलम्बित है।

शीघ्र न कार्य होने की दशा में शिष्य को यह बतलाया जाता है कि कल्पना से बार बार तब तक कार्य ले जब तक अचेतन मन की मनसा कल्पित मूर्ति अभीष्ट कार्य के सम्पादन में न लग जाय। यह प्रक्रिया अचेतन मन के मानसिक पथ को साफ कर देती है और इसीको वह पसन्द कर लेता

है, क्योंकि वह निर्बोध पथ पर कार्य करना अधिक चाहता है।

इसमें सन्देह नहीं कि बहुत कुछ बात अभ्यास पर निर्भर है, अभ्यास ही से सिद्धि प्राप्त होती है, इस बात को आप जानते ही हैं, वही बात इस अनुद्‌बोधन के सम्बन्ध में भी है।

शिष्य क्रमशः इस विषय में सिद्धि प्राप्त कर लेता है, और ''' अपना समय मानासिक पाचन के लिये अन्य बातों के ज्ञान प्राप्त करने में लगाता है और सोचने का काम इसी अनुद्‌बुद्ध मन से लिया करता है।

परन्तु बड़ी आवश्यक बात स्मरण रखने की यह है कि सौंपे हुए विचार सामाग्रियों को प्रेरणा करनेवाली जो आकांक्षा शक्ति है, और जो अचेतन मानसिक क्रिया की कारण है, वह उस अवधान और मनोयोग पर अवलम्बित है, जो उन सामाग्रियों की प्राप्ति में लगाया गया है। यह विचारों का समूह, जिसे अचेतन मन द्वारा पचाना और सुलझाना है, अवधान और मनोयोग से भरपूर होना चाहिये, तभी उत्तम से उत्तम फल प्राप्त होगा। सच तो यह है कि अवधान और रोचकता आकांक्षा के लिये इतने सहायक हैं कि आकांक्षाशक्ति के विकास और प्राप्ति का विचार वस्तुतः अवधान और रोचकता की प्राप्ति है। शिष्य लोग पहले के उस पाठ को फिर पढ़ जाँय जिसमें अवधान और रोचकता की महिमा समझाई गई है।

उस विचार सामग्री के प्राप्त करने में, जिसको अचेतन मन की क्रिया के लिये सौंपना है, मनुष्य को उस विचार सामग्री के प्रत्येक खंड में बहुत अधिक मात्रा रोचकता और

अवधान की लगानी होगी। इस विचारसामग्री का एकत्रित करना एक मुख्य क्रिया है और उसे तुच्छ न समझना चाहिये। मनुष्य समस्त विचार सामग्री को शीघ्रता से नहीं एकत्रित कर सकता, और जब तक अचेतन मानस पूरी सामग्री न पावेगा पूरा काम न देगा। जो शिष्य विचार सामग्रियों को एकत्रित करने में त्रुटि करेगा उसे निराशा भोगनी पड़ेगी।

इसके करने की उचित रीति यह है कि विचारसामग्री के एक २ खंड को बारी बारी से लेकर बड़ी रुचि अथच बड़े अवधान के साथ जाँचा जाय और फिर उसमें रुचिपूर्वक अवधान भर कर उसे उस विचारसमूह में रख दो जिसे अचेतन मन को सौंपना है। तब सामग्री का दूसरा खंड लो और उसके साथ भी यही बर्ताव करके इसे भी उसी समूह में रख दो। इस प्रकार जब उस विषय की सब प्रधान बातों को एकत्रित कर लो तब पूरे समूह पर अवधान और रुचि के साथ विचार करो। तब उस समूह को अचेतन मन की कोठरी में यह आज्ञा देकर छोड़ दो कि "इस विचारसामग्री पर अवधान दो" और साथ ही विश्वासभरी आशा रक्खो कि तुम्हारी आज्ञा का पालन होगा।

विचार-सामग्री में अवधान और रोचकता करने की यह भावना है कि ऐसा करने से दृढ़ मानसिक मूर्ति बन जाती है, जिसे अचेतन मन सरलता से व्यवहार कर सकता है। स्मरण रखिये कि आप अचेतन मन के हवाले विचारों को कर रहे हैं, और ये विचार जितने ही स्पष्ट होंगे उतनी ही

सरलता से अचेतन मन इस पर कार्य कर सकेगा। इस लिये जिस तरीके से ये विचार स्पष्ट हो सकें उसी तरीके का अनुसरण करना चाहिये । अवधान और रोचकता ही इस कार्य को कर सकते हैं ।

योगी लोग अपने शिष्यों को नवनीत का उदाहरण दिया करते हैं कि जैसे मंथन करते २ अदृश्य घी जम कर नवनीत रूप में प्रगट हो जाता है, वैसे ही अवधान और रुचि को लगाने से विचार स्पष्ट और रूपवाले हो जाते हैं, जिसे मन व्यवहार में उसी प्रकार ला सकता है जैसे भौतिक द्रव्यों को हाथ व्यवहार में ला सकता है। हमारा आग्रह है कि आप इस उदाहरण पर ध्यान दें, क्योंकि जब आप एक बार उस भावना को ग्रहण करलेंगे, जिसे हम दिया चाहते हैं, तब आप के अधीन विचारशक्तियों का रहस्य आ जायगा ।

यह अनुद्‌बोधन-शक्ति केवल दार्शनिक प्रश्नों पर ही परिमित नहीं है किन्तु यह मनुष्य के विचारों के प्रत्येक क्षेत्र में बर्ती जा सकती है। यह प्रत्यह के जीवन के साध्यों को साधने में, उसी प्रकार लगाई जा सकती है जैसे उच्च विचारों में लगाई जाती है । हमारे सब शिष्यों को समझ जाना चाहिये कि इस सरल पाठ द्वारा हम महती मानसिक शक्ति की कुंजी उन्हें दे रहे हैं ।

जो वस्तु हम आप को दे रहे हैं उसको समझाने के लिये हम उस कहानी का स्मरण दिलाया चाहते हैं जो सब जातियों में प्रचलित है कि कैसे बढ़ई, सोनार, दर्जी या वजीर के उस लड़के के पास उस समय परी आती थी, जब सब लोग सो

जाते थे, जिसने अपने अच्छे कामों से परियों की रानी को मोहित कर लिया था, और उस काम को पूरा कर जाती थी जिसे लड़के ने रात को अधूरा छोड़ दिया था। परन्तु सामग्री वही कारीगर मुहइया किये रहता था।

ठीक यही बात हम आपको समझाना चाहते हैं। मानसिक परियों का एक ऐसा वंश है जो आप पर बड़ी ही कृपा और प्रेम रखता है और जो आपके कार्यों में सर्वदा आपकी सहायता किया चाहता है। तुम्हें इतना ही करना है कि उन के लिये उचित सामग्री एकत्र कर दो और उनसे बतला दो कि उस सामग्री से तुम क्या बनाया चाहते हो, शेष कार्य वे स्वयम् कर लेंगी। ये मानसिक परियाँ आपही के मन की अंश हैं। ये कोई बाहरी सत्ता नहीं हैं, जैसा कि अक्सर लोग ख्याल करते हैं।

बहुत से मनुष्य, जो संयोगवश अचेतन मन को साध्यों को साधते और दूसरे लाभदायक काम करते पा गये हैं, उन्होंने ऐसा ख्याल कर लिया कि यह सहायता उन्हें बाहर से मिली है। कुछ लोगों का यह ख्याल हुआ कि पितृलोक से पितर संदेश दे गये, दूसरों ने यह समझा कि ईश्वर या देवता हमारे लिये यह काम कर गये। पितरों या देवताओं के सन्देशों का, जिस पर हमारा भी (कुछ शर्तों के साथ) विश्वास है, वर्णन न करके हम इतना ही कह देते हैं कि अधिकांश कार्य अपनी ही मननशक्ति द्वारा होते हैं।

हम लोगों में से प्रत्येक मनुष्य के अपने ही मन में एक मित्र है, सच तो यह कि कोड़ियों ऐसे मित्र हैं, जो हमारे

लिये कार्य कर देने में सुख मानते हैं, यदि हम उन्हें कार्य करने दें। हमारे पास केवल उच्च ही आपा नहीं है जिसका मुँह हम संकट और विपत्ति के काल में सहारा और तसल्ली के लिये ताकें, किन्तु हमारे पास अदृश्य मानसिक कामकाजी लोग भी हैं, जो हमारे लिये मानसिक कार्य करने के लिये बहुत इच्छुक और प्रसन्न रहते हैं, यदि हम उन्हें उचित रूप में सामग्री दे दें।

इन फलों के प्राप्त करने के लिये भिन्न उपायों का बतलाना बहुत कठिन कार्य है क्योंकि प्रत्येक बात अपनी विशेष दशा से बहुत कुछ आवेष्टित रहती है। परन्तु मुख्य बात यह है कि विचारसामग्री को तदनुकूल बना लेना चाहिये और तब उसे ऊपर लिखी हुई रीति से अचेतन मन में छोड़ देना चाहिये। आइये कुछ ऐसे विषयों पर दृष्टि डाल दें जहां इस क्रिया का प्रयोग हो सकता है।

कल्पना कीजिये कि आप के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित है कि जीवन के किसी कार्य में इन दो या अधिक मार्गों में से कौन सा मार्ग पकड़ा जाय। प्रत्येक मार्ग में लाभ और हानि दोनों हैं और आप निश्चय करने में असमर्थ हैं। आप जितना ही सोच-विचार इस निश्चय करने में करते हैं, उतना ही जाल में घुसते से प्रतीत करते हैं। आपका सचेतन मन थक जाता है और ऐसी दशा प्रगट करने लगता है जिसे ऊब जाना कहते हैं। जिसे बहुत सोचना पड़ेगा वही ऊब जायगा। साधारण मनुष्य तो मन के थक जाने पर और अरुचि प्रगट करने पर भी बार बार सोचा करेंगे। पर यह बात अनुचित

है, क्योंकि सचेतन मन समझता है कि यह मार्ग मन के दूसरे भाग का है—वह क्षेत्र जो पचानेवाला है—और बार २ सचेतन मन को उसके सम्पादन करने की प्रेरणा करने से वह अपने लिये अनुपयुक्त कार्य देख कर ऊबता है।

अनुद्बोधन के तरीके के अनुसार, मनुष्य के लिये प्रथम यह कार्य करना है कि मन को शान्त और स्थिर करे। तब साध्य की मुख्य २ बातों को तरतीब दे और साथ ही छोटी २ बातों को भी अपने २ स्थान पर रक्खे। तब शनैः २ एक २ करके उन्हें निरीक्षण के लिये अपने सम्मुख लावे, प्रत्येक बात और विवरण पर दृढ़ रोचकता और अवधान देता जाय, ज्यों २ वे सम्मुख आवें, परन्तु निश्चय करने या परिणाम निकालने की तनिक भी चेष्टा न करे। फिर उस बात का सरुचि और साव-धान्त निरीक्षण करके यह आकांक्षा करे कि बात अनुद्बुद्ध मन में पहुँच जाय, उस बात को मन की कोठरी में छोड़ देने की मानसिक मूर्ति की कल्पना करले और साथ ही आकांक्षा को यह आज्ञा दे कि "मेरे लिये इस कार्य को कर डालो"।

सचेतन मन से बात को हटा दो। इस हटाने में आकांक्षा की आज्ञा के प्रयत्न से काम लो। यदि ऐसा करना कठिन प्रतीत हो तो बार २ इस मंत्र के कहने से सफलता प्राप्त होगी कि "मैंने इस विषय को सचेतन मन से हटा दिया है और मेरा निश्चेतन मन इस कार्य को मेरे लिये कर देगा।" फिर इस बात के पूर्ण विश्वास और भरोसा का मानसिक भाव बनाये रहो और सब चिन्ता और सोच विचार छोड़ दो। यह बात पहले कुछ कठिन जान पड़ेगी परन्तु जब कई बार

सफलता प्राप्त हो जायगी तब आपका विश्वास दृढ़ हो जायगा और यह भावना स्वाभाविक हो जायगी। यह विषय अभ्यास का विषय है और प्रत्येक नई बात की भांति धैर्य और लगे रहने से प्राप्त होगा। यह बात समय और परिश्रम लगाने ही के योग्य है और जब सिद्धि प्राप्त हो जायगी तो मानो आशातीत स्थान में एक निधि मिल गई। जिस मनुष्य ने इस बात का साधन कर लिया है उसके मन में जो शान्ति, सन्तोष और विश्वास विराजता है वही एक बड़ा भारी फल है, असली फल का तो कुछ कहना नहीं है। जिस मनुष्य ने इस बात को प्राप्त कर लिया है उसके लिये पुरानी चिन्ताएँ, सोच विचार और व्याकुलताएँ तो असभ्यता के चिन्ह प्रतीत होने लगते हैं। इस नये पथ से नयी भावनाओं और तोष का संसार खुल जाता है।

किसी मामले में तो अचेतन मन थोड़े ही समय में अभीष्ट कार्य को कर डालेगा और सच तो यह है कि हमें ऐसी दशाएँ बहुत सी मिली हैं जब कि तत्काल ही उत्तर झलक पड़ा है जैसे देववाणी हो। परन्तु अधिकांश दशाओं में थोड़ा बहुत समय आवश्यक होता है। अचेतन मन बड़ी शीघ्रता से कार्य करता है, परन्तु विचारसामग्री के ठीक तरतीब देने में वह समय लेता है कि तरतीब देकर उन्हें अभीष्ट रूप में लावे। अधिकांश दशाओं में दूसरे दिन तक बात को पड़ी रहने देना चाहिये जिससे पुरानी कहावत की चरितार्थता हो कि गंभीर विषयों में निश्चय करने के पहले उस विषय पर सो जाना चाहिये।

यदि दूसरे दिन बात प्रगट न हो तो फिर उसे निरीक्षण के लिये सचेतन मन के सम्मुख लाइये। आपको यह विदित होगा कि उस बात ने बहुत कुछ सूरत पकड़ ली है और निश्चित रूप और स्पष्टता धारण कर रही है। परन्तु दुबारा फिर उसका खोद विनोद करके उसमें हस्तक्षेप मत कीजिये और न फिर उसे सचेतन मन द्वारा तरतीब दीजिये। इसके स्थान पर नये रूप से उसमें अवधान और रुचि दीजिये और तब फिर उसे अनुद्बुद्ध मन के हवाले कीजिये। नये सीखने-वालों की अधीरता से बार २ उस बात को मत ऊपर लाया कीजिये कि देखें क्या हो रहा है। उसे समय दीजिये कि उस पर कुछ काम हो। उस लड़के की भाँति मत हो जाइये कि जिसने जमने के लिये एक बीज बोया और रोज उसे उखाड़ २ कर देखता था कि देखें अंकुर निकलना शुरू हुआ कि नहीं और कितना अंकुर निकल आया है।

देर सबेर अनुद्बुद्ध मन आप से आप उस बात को पूरे रूप में लेकर सचेतन मन के सम्मुख उपस्थित करेगा कि सचेतन मन उस पर विचार करे। अनुद्बुद्ध मन इस बात का हठ नहीं करता कि आप उसीकी राय को स्वीकार करें, परन्तु वह केवल अपने तरतीब देने, श्रेणीबद्ध करने आदि कार्यों के फल को लेकर उपस्थित होता है। पसन्द और मर्जी आप ही की रहती है, परन्तु प्रायः आपको यह पथ और पथों से अच्छा जँचेगा और आप इसी पथ का अनुसरण करेंगे। इसका रहस्य यह है कि अनुद्बुद्धमन अपने आश्चर्यजनक धैर्य और सावधानी से इस विषय का विश्लेषण कर देता है और उन

बातों को पृथक २ कर देता है जो एक ही में मिली प्रतीत होती थीं। इसने सदृश बातों को भी पा लिया है और उन बातों को एक में मिला दिया है जो पहले एक दूसरे के प्रतिकूल प्रतीत होती थीं। संक्षेप में इसने उन सब कार्यों को बहुत अच्छी तरह से कर लिया है जिसे आप बहुत परिश्रम और समय लगा कर कर पाते और तब यह आप के सम्मुख उसे आपके विचार और आज्ञा के लिये उपास्थित करता है।

इसका सारा कार्य प्रमाणों को विवेचन करने, पृथक करने, विश्लेषण करने और तरतीब देन में और तब उस बात को स्पष्ट और ठीक रूप में आप के सम्मुख उपस्थित करने में हुआ है। वह निश्चायक शक्ति के प्रयोग करने की चेष्टा नहीं करता, परन्तु वह इस बात को जानता है कि उसका कार्य इन सम्पादित प्रमाणों को उपस्थित ही कर देने का है और इसके आगे सचेतन मन का कार्य है।

अब इस कार्य को प्रतिभा के कार्य से मत गड़बड़ाइये, जो कि भिन्न ही मानसिक पटल या लोक है। यह अचेतन क्रिया, जिसका वर्णन किया गया है, बिलकुल ही भिन्न कार्य करती है। यह बहुत ही अच्छा सेवक है और अधिक बनना नहीं चाहती। प्रतिभा इसके विपरीत उच्च मित्र है—एक ऐसा मित्र है जो ऊपर के दर्बार में रहता हो और हमें उपदेश देता और सचेत कर देता हो।

इस पाठ में हमने यह शिक्षा दी है कि मन के इस भाग को कैसे जानकारी और चेतना के सहित काम में ला सकते हैं कि अनस्थिर प्रश्नों में सर्वोत्तम फल मिले और सोच

विचार तथा चिन्ता न करनी पड़े। परन्तु सच तो यों हैं कि इसमें से प्रत्येक मनुष्य मन के इस भाग से अचेतनता ही में थोड़ा बहुत कार्य लिया करता है और यह नहीं जानता कि हमारे मानसिक जीवन में यह कितना कार्य करता है। हम किसी बात को सोचते २ घबड़ा जाते हैं और दूसरा काम करने के लिये उसे हटा देते हैं या सो जाते हैं और जब कुछ समय के पश्चात् या जग कर फिर उस बात पर ख्याल करते हैं तो जान पड़ता है कि वह बात किसी रीति से स्पष्ट और सीधी हो गई है और उसके विषय में हम कुछ ऐसी बातें जान गये हैं जिन्हें पहले नहीं जानते थे। इन पाठों में हम उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं और उनकी चेतना और जानकारी के सहित बर्तने की रीति बताते हैं। हम मन के ऊपर प्रभुता रखना सिखाते हैं।

अब इसी नियम को दूसरे मामले में लगाइये। कल्पना कीजिये कि किसी विषय के सम्बन्ध में आपको जितना ज्ञान हैं उस सब को आप एकत्र किया चाहते हैं। पहली बात तो यह है कि यह बात निश्चय है कि आप किसी विषय के सम्बन्ध में उससे कहीं अधिक ज्ञान रखते हैं जितना आप ख्याल करते हैं। किसी विषय के सम्बन्ध में आपके ज्ञान, मन या स्मृति के अनेक कोनों में बिखरे हुए संचित रहते हैं। ये ज्ञानखंड एक दूसरे से सहयुक्त नहीं रहते। आपने अपने सम्मुख उपस्थित किसी प्रश्न विशेष पर अवधानपूर्वक विचार नहीं किया, इसलिये बात मन में सहयुक्त नहीं है। यह मामला उसी प्रकार का है जैसे आप पंसेरियों और मनो

किसी वस्तु को मालगोदाम में इधर उधर छितराये हुए हों कि एक छटाँक यहाँ, आधपाव वहां, अनेक अन्य वस्तुओं में मिली बिखराये हुये डाल रक्खे हों।

इस बात का प्रमाण आपको तब मिल सकता है जब आप कुछ समय तक शान्तचित्त होकर बैठ जाँय और अपने विचारों को किसी एक विषय पर दौड़ने दें, तब आप के चेतना के क्षेत्र में अनेक प्रकार के ज्ञान उदय होने लगेंगे जो पहले आपको विस्मरण थे और वे सब अपने २ उचित स्थान पर जुटते प्रतीत होंगे। प्रत्येक मनुष्य को इस प्रकार के अनुभव हुए होंगे। परन्तु बिखरे हुए ज्ञान के एकत्रित करने का कार्य सचेतन मन को अखरता है, परन्तु अचेतन मन भी वैसी ही अच्छी तरह से इस कार्य को कर सकता है। सच तो यह है कि सर्वदा अचेतन ही मन इन कार्यों को करता है। जब आप यह भी जानते हैं कि सचेतन मन कार्य कर रहा है। सचेतन मन केवल इतना ही करता है कि मन को सम्मुखस्थ विषय या पदार्थ पर एकाग्र किये रहता है और अनुद्बुद्ध मन की बातें सम्मुख उपस्थित करने देता है। परन्तु मन को एकाग्र करना अर्थात् अवधान का लगाये रहना कठिन कार्य प्रतीत होता है, और यह आवश्यक भी नहीं है कि मन अपनी शक्तियों को कार्य के सूक्ष्म विवरण में व्यय करे क्योंकि यही कार्य और भी अधिक सरलता से दूसरी रीति से हो सकता है।

सर्वोत्तम पथ यह है कि किसी वैसी ही रीति का अनुसरण किया जाय जो कुछ पृष्ठ पीछे वर्णन की गई है। अर्थात् यह कि सम्मुखस्थ प्रश्न पर रुचि सहित सुदृढ़ अवधान

लगाया जाय जब तक आपको अभीष्ट प्रश्न का स्पष्ट और जागृत अंकन न हो जाय। तब सारे प्रश्न को अचेतन मन के हवाले इस आज्ञा के साथ कर दीजिये कि "इस कार्य को करो" और यह आज्ञा देकर छोड़ दीजिये। तब उस विषय को सचेतन मन से हटा दीजिये और अचेतन कार्य होने दीजिये। यदि सम्भव हो तो अगले सुबह तक अचेतन कार्य होते रहने दीजिये और तब उसे विचार के लिये उठाइये। तब यदि आपने प्रारम्भिक बातें उचित रीति से की होंगी तो विषय आपको हल किया हुआ मिलेगा। वह इस प्रकार तारतम्य से स्थापित मिलेगा कि आपका सचेतन अवधान साफ़ उन सब बातों, उदाहरणों और अनुभवों आदि की आलोचना कर सकेगा जो उस विषय से सम्बन्ध रखते होंगे।

अब आपमें से बहुत से लोग कहेंगे कि हम इस रीति को उन मामलों में भी व्यवहृत किया चाहते हैं जिनमें हमें दूसरे सुबह तक अवसर देने का अवकाश नहीं है। ऐसे मामलों में भी हम कहेंगे कि इस अचेतन क्रिया को शीघ्रता से करने की भी रीति है। बहुत से कामकाजी मनुष्य संयोगवश ऐसी रीति को पा गये हैं। आवश्यकता की प्रेरणा से उन्हें इस रीति का आपसे आप आविष्कार हो गया है। वे अपने किसी विषय पर शीघ्रता से बहुग्राही अवधान की सुदृढ़ झलक डालते हुए, उस विषय के ठीक हृदय तक पहुँच जाते हैं और तब उसे अचेतन मन में कुछ क्षण तक छोड़ देते हैं और उतना समय प्रारम्भिक वार्तालापों में बिताते हैं कि उत्तर की पहली झलक उन्हें आ जाती है। इस पहली झलक के मिल जाने पर वे

उस विषय के उस छोर से जो पहले उनके सम्मुख उपस्थित होता है उस विषय को सुलझाते जायँगे और उसके सम्बन्ध में बात करते जायँगे जिससे स्वयम् उन्हीं को आश्चर्य होगा। बहुत से वकीलों को यह ज्ञान प्राप्त रहता है और वे बड़े सुयोग्य समझे जाते हैं। ऐसे मनुष्यों के सम्मुख जब ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जाता है जिसकी उन्हें तनिक भी आशंका न थी, तब भी वे निर्भय और निःशंक होकर वही विश्वास रखते हैं कि उन्हीं के भीतर से कोई बात प्रगट होकर उनकी सहायक हो जावेगी। इसलिये निःशंक भाव बनाये हुए वे कुछ कुछ साधारण मोटी बात कहते रहेंगे तब तक उनका अचेतन मन बड़ी शीघ्रता से उत्तर की सामग्री एकत्र करने में लगा रहेगा। क्षण भर में उत्तर का एक छोर उनकी चेतना के सम्मुख उपस्थित हो जावेगा उसी छोर के आश्रय पर जब वे कथन करने लगेंगे तो भावना पर भावना उनके सचेतन और उत्सुक अवधान के सम्मुख उपस्थित होने लगेंगी, कभी २ तो इस शीघ्रता से कि उनका कथन कर डालना असम्भव हो जायगा। आशंका समाप्त हो जावेगी और प्रगट की हार और विफलता के जबड़े में से स्वच्छ विजय और सफलता प्राप्त हो जावेगी। ऐसी दशाओं में अचेतन मन के ऊपर आज्ञाएँ शब्दों में नहीं दी जातीं परन्तु वे प्रबल मानसिक आवश्यकताओं का परिणाम हुआ करती हैं। यदि कोई मनुष्य ऐसी दशा में शीघ्रता से शब्द द्वारा अचेतन मन को यह आज्ञा दे सके कि "इसे सँभालो" तो परिणाम और भी अच्छा होगा।

हम सांसारिक बड़े २ काम काजी मनुष्यों के सम्बन्ध

में ऐसे मामलों को जानते हैं कि जब कोई मनुष्य किसी भारी विषय पर उनसे वार्तालाप करने आया है तब उन्होंने सिगार पीना प्रारम्भ कर दिया है, इस लिये नहीं कि उसी समय उन्हें सिगार पीने की तलब हुई, किन्तु इस लिये कि सिगार पीने में आवश्यक समय पर उनके अचेतन मन को गूढ़ बातों के उत्तर ढूँढ़ निकालने का अवकाश मिल जाया करेगा। कोई प्रश्न पूछा गया अथवा कोई प्रस्ताव उपस्थित किया गया जिस के तत्काल उत्तर की आवश्यकता है। अब उत्तर देनेवाला मनुष्य प्रगट रूप से उत्तर की ढूँढ़ में व्यग्र नहीं होता किन्तु वह सिगार की एक लम्बी कश खींचता है, और तब धीरे २ सिगार के छोर की रक्खी पर दृष्टि डालता है और उस रक्खी को रक्खी पात्र में झाड़ देने में एक क्षण और लगाता है तब तक अचेतन मन से उत्तर झलक जाता है, और वह उत्तर देने लगता है कि "उस विषय में जैसा कि ·· इत्यादि"। इस सिगरेट के मामले के बहाने जो थोड़ा समय लिया गया है उसी समय में अचेतन मन ने अपनी सामग्री एकत्र कर ली, उसे उचित रूप दे दिया और उत्तर देनेवाले की ओर से किसी अनाकानी की आवश्यकता न हुई। इन सब बातों में अभ्यास की आवश्यकता है परन्तु मूल मंत्र इन सब बातों में एक ही है। मुख्य बात यह है कि ऐसी दशाओं में मनुष्य अपने मन के किसी गुप्त भाग को अपने लिये कार्य करने को लगा देता है और जब वह बोलना शुरू करता है तब तक बात एक अच्छी सूरत में तैय्यार हो जाती है।

हमारे शिष्यों को यह समझ रखना चाहिये कि गभीर

वार्तालापों के समय हम उन्हें सिगार पीने की सलाह नहीं दे रहे हैं । यह तो हमने केवल एक उदाहरण बतला दिया है । कोई मनुष्य तो ऐसे अवसरों पर हाथों में पेंसिल फेरने लगते हैं और जब उत्तर प्रगट देना होता है तो उसे रख देते हैं । परन्तु ऐसे उदाहरणों का देना अब हम समाप्त करेंगे नहीं तो कदाचित यह समझा जाय कि मन के व्यवहार की शिक्षा देने के स्थान में हम सांसारिक चतुराइयों की शिक्षा देने लगे।

अचेतन-मन केवल ऊपर लिखे ही हुए पथ पर नहीं व्यवहार में लाया जाता किन्तु जीवन के प्रत्येक साध्य और प्रत्येक संकट के समय म वह काम में लाया जा सकता है । ये छोटी २ अचेतन परियाँ सदा हमारी सेवा के लिये प्रस्तुत रहती हैं और काम कर देने में उन्हें प्रसन्नता होती है ।

इससे यह न समझना चाहिये कि अचेतन-मन्न से काम लेने में हम अपनी स्वाधीनता खो कर पराधीन हो रहे हैं, किन्तु इससे हम स्वावलम्बी हो रहे हैं, क्योंकि हम अपने ही अंग से कार्य ले रहे हैं, बाहरी उपदेश की उपेक्षा नहीं कर रहे । यदि वे मनुष्य, जो सदा अन्यों के उपदेश के आश्रय पर रहते हैं, इस अभ्यास को सीख जाते तो कैसा घरेलू सलाहकार पा जाते और परावलम्बी होना छोड़ कर स्वावलम्बी और निःशंक हो जाते । अब उस मनुष्य के आत्मावलम्बन की तो कल्पना कीजिये जो समझता है कि हमारे भीतर भी उतने ही ज्ञान का द्वार खुला है जितना उन अधिकांश औरों में जिनसे भेंट होने की सम्भावना है तो वह निर्भीक हो कर सब से जुट जाता है और निर्भय सबकी आँख से आँख

मिला सकता है। वह समझता है कि हमारा मन चेतना के अल्प ही क्षेत्र तक परिमित नहीं है; परन्तु अनन्त विस्तृत मैदान है और इतने ज्ञान से भरा है कि जिसका ख्याल तक नहीं किया गया है। जिन शक्तियों को मनुष्य ने पैत्रिक सम्पत्ति रूप में पाया है अथवा जिन्हें वह पूर्वजन्मों से अपने साथ लाया है, वे सब उसके मन के गुप्त कोनों में भरी पड़ी हैं और उसकी आज्ञा को पाते ही उस सब ज्ञान का सार उसी मनुष्य का है। बारीकियाँ चाहे परिणाम रूप में उसकी चेतना के सम्मुख न आवें (इसमें गूढ़ कारण है) परन्तु उस विषय के ज्ञान का सार तो अवश्य उतने तर्कों और उदाहरणों के सहित चेतना के सम्मुख उपस्थित हो जायगा, जितने से उसके लिये एक खासा मामला खड़ा हो जायगा।

अगले पाठ में हम मन के इस बृहत् क्षेत्र के अन्य गुणों और पटलों पर आपके अवधान को आकर्षित करेंगे और आपको दिखलावेंगे कि आप कैसे काम में लगा सकते हैं और कैसे इस पर प्रभुता स्थापित कर सकते हैं। सर्वदा स्मरण रखिये कि "अहम्" प्रभु है और इसकी प्रभुता को सर्वदा स्मरण रखना चाहिये और मन की सब भूमिकाओं और पटलों पर इसका प्रतिपादन करना चाहिये। अचेतन-मन के दास मत बनो, किन्तु उसके स्वामी बनो।

मंत्र ।

हमारे भीतर मन का एक सुविस्तृत क्षेत्र है जो हमारी आज्ञा में और हमारी प्रभुता के अधीन है। यह मन हमारा

स्नेही है और हमारी आज्ञाओं के पालन करने में प्रसन्न होता है। जब हम उससे कहेंगे तब वह हमारे लिये कार्य कर देगा। वह एकरस, अथक और भक्त है। इस बात को जान कर अब मैं भयभीत, मूर्ख और अज्ञानी नहीं हूँ। "अहम्" सबका प्रभु है और अपनी प्रभुता प्रतिपादन कर रहा है। मैं शरीर, मन, चेतना और अनुद्बुद्ध मन सबका स्वामी हूँ। मैं "अहम्" हूँ— शक्ति, बल और ज्ञान का केन्द्र हूँ। मैं "अहम्" हूँ, मैं आत्मा हूँ— मैं परम ज्योति की किरण हूँ।

ग्यारहवाँ पाठ।

अचेतन चरित्रगठन।

पिछले (अर्थात् दसवें) पाठ में हमने आपके अवधान को मनन के अचेतन क्षेत्र के बुद्धि सम्बन्धी कार्यों की ओर आकर्षित किया है। यद्यपि उस ओर मनन के इस क्षेत्र की सम्भावना बहुत ही अधिक है तौभी उसीके समान इसकी सम्भावना उसी रीति से चरित्रगठन की ओर भी अधिक ही है।

प्रत्येक मनुष्य अनुभव करता है कि शिक्षा और रोक के प्रबल प्रयत्न द्वारा मनुष्य अपनी चालचलन में परिवर्तन ला सकता है, और उन सब लोगों ने जो इन पाठों को पढ़ रहे हैं, इसी तरीके से कुछ न कुछ अपनी चालचलन को बदल भी डाला है। परन्तु यह बहुत हाल की बात है कि सर्वसाधारण लोग समझने लगे हैं कि मनुष्य का चरित्र भी परिवर्तित हो सकता है और कभी २ तो मन की अचेतन शक्तियों के विचारपूर्वक व्यवहार द्वारा मनुष्य का चरित्र पूरा २ परिवर्तित हो सकता है।

मनोविज्ञान की अर्वाचीन पुस्तकों में चरित्र के सुधार की युक्तियाँ अब दी जाने लगी हैं। परन्तु ये युक्तियाँ पूर्वीय योगी आचार्यों के लिये नयी नहीं हैं क्योंकि ये लोग शताब्दियों से अपने शिष्यों को चरित्र सुधार के विषय में शिक्षा देते

आये हैं । योगी लोग सिखाते हैं कि जन्म के समय मनुष्य का चरित्र अनगढ़ रहता है, वही साधारण मनुष्यों की दशा में बाहरी प्रभावों के द्वारा गढ़ा और कुछ २ सुधारा जाता है, और चतुर ज्ञानी मनुष्यों की दशा में विचारपूर्वक आत्म-शिक्षण द्वारा पूरा २ गढ़ा और सुधारा जाता है । योगियों के शिष्यों के चरित्रों की परीक्षा की जाती है और तब अनिष्ट विशेषताओं के निराकरण और अभीष्ट अनुभवों के जगाने की शिक्षा दी जाती है ।

चरित्रगठन के विषय में योगियों की रीति मन के अचेतन लोक की अद्भुत शक्तियों के ज्ञान के आधार पर स्थापित है । शिष्य को उन्हें प्रबल रीति से रोकने और जगाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, परन्तु इसके विपरीत, उसे यह सिखाया जाता है कि ऐसी रीतियाँ प्रकृति के नियम के विरुद्ध हैं, और यह शिक्षा दी जाती है कि चरित्र सुधार की सर्वोत्तम रीति यह है कि प्रकृति का अनुसरण किया जाय और अभीष्ट अनुभवों की ओर आकांक्षा और अवधान को एकाग्र करके उन्हें क्रमशः विकसाया जाय । अभीष्ट अनुभवों का निराकरण शिष्य उनके प्रतिकूल अनुभवों के जगाने द्वारा करता है । उदाहरण के लिये, यदि शिष्य भीरुता के अनुभव को हटाया चाहता है तो उसे यह शिक्षा नहीं दी जाती कि भय को मार डालने के लिये भय पर चित्त एकाग्र करो, किन्तु यह सिखाया जाता है कि वह मनसा इस बात को अस्वीकार करे कि मैं भय के वशीभूत हूँ और तब वीरता की भावना पर चित्त को एकाग्र करे । ज्यों २ वीरता विकसेगी त्यों २ भय का लोप होगा । विधा-

त्मक भावनाएँ सर्वदा निषेधात्मक भावनाओं पर प्रबल होती हैं।

अचेतन चरित्र संगठन के विषय में योगियों की रीति का मूलतत्व "आदर्श" है। शिक्षाएँ इस विषय की होती हैं कि अवधान के प्रयोग द्वारा आदर्श खड़े किये जायँ। शिष्य को गुलाब के पौधे का उदाहरण दिया जाता है। उसे सिखाया जाता है कि पौधे पर जितना ही अवधान और जी लगाया जायगा उतना ही बढ़ेगा और हरा भरा रहेगा और जितना ही अवधान और जी लगाने में कमी की जायगी उतना ही वह हीन क्षीण रहेगा। शिष्य को सिखाया जाता है कि किसी अभीष्ट अनुभव का आदर्श मानसिक गुलाब है और सावधान जी लगाने से वह आदर्श वृद्धि को प्राप्त होगा और पत्ते फूल फैलावेगा। पहले शिष्य के लिये छोटा सा मानसिक अनुभव विकसाने को दिया जाता है और उससे कहा जाता है कि इसी पर अपने विचार को जमाओ, अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग करो और मनसा देखो कि तुम अभीष्ट गुण प्राप्त कर रहे हो। उसे जपने के लिये मंत्र बतलाए जाते हैं कि जिससे उसको मानसिक केन्द्र मिल जाय जिसके चारो ओर वह अपना आदर्श खड़ा करे। उन शब्दों में प्रबल शक्ति होती है जो इस प्रकार प्रयोग किये जाते हैं, परन्तु यह बहुत ही आवश्यक है कि शब्दों का प्रयोक्ता उनके अर्थों पर भी विचार करता जाय और जिस गुण का द्योतन वे शब्द करें उसका मानसिक चित्र भी खींचता जाय। तोते की भांति शब्दों के केवल उच्चारण मात्र से कुछ नहीं होता।

योगी-शिष्य को क्रमशः शिक्षा तबतक होती जाती है जब

तक वह अचेतन मन की रचना के कार्यों में सचेतन प्रेरणा द्वारा शक्ति नहीं प्राप्त कर लेता। यह शक्ति सभी को सिद्ध हो सकती है जो इसका अभ्यास करने का परिश्रम उठावें। सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य इस शक्ति को धारण किये है और इसको वर्तता है, यद्यपि वह इसका अभिज्ञ न हो। मनुष्य का चरित्र अधिकांश उन विचारों के अनुकूल होता है जो उसके मन में बसते हैं, और उन आदर्शों के अनुकूल होता है जिन्हें मनुष्य धारण करता है। जो मनुष्य सर्वदा अपने को हारा हुआ और पददलित समझता है उसके मन में इन बातों के विचाररूपों के ऐसे आदर्श उगने लगेंगे कि उसकी सारी प्रकृति उन्हीं आदर्शों के वशीभूत हो जावेगी और उसके प्रत्येक कार्य उसके विचारों को चरितार्थ करने की ओर अपनी क्रियौं करेंगे। इसके विपरीत जो मनुष्य सफलता और विजय का आदर्श धारण करता है उसे जान पड़ता है कि उसकी सारी मानसिक प्रकृति उसी फल की ओर काम करती है— आदर्श वास्तविकता में परिणत होता है। यही बात प्रत्येक आदर्श के विषय में है। जो मनुष्य ईर्षा का मानसिक आदर्श खड़ा करता है उसके हृदय में ईर्षा जग उठेगी और वह अनभिज्ञता ही में ऐसी दशा उत्पन्न कर देगा जो उसकी ईर्षा को भोजन देकर उसे पुष्ट करेगी। परन्तु इस विषय का यह पटल अगले पाठ का विषय है। यह ग्यारहवाँ पाठ उस पथ के बतलाने के लिये है जिसके द्वारा मनुष्य अपने चरित्र को जैसे चाहे वैसे ढाल और मोड़ सकते हैं, अनिष्ट अनुभवों के स्थान में अभीष्ट गुण रोपण कर सकते हैं और अभीष्ट आदर्शों को

क्रियात्मक अनुभावों में विकसित कर सकते हैं। जो मनुष्य मन के ढालने के रहस्य को जानता है उसके लिये मन खूब ही संस्कारग्रहणशील (अर्थात् गीला) है।

साधारण मनुष्य अपने चरित्र के दृढ़ और निर्बल मर्मस्थानों को जानता है, पर उन्हें प्रायः अटल और अपरिवर्तनशील समझता है। वह समझता है कि हम ठीक वैसे ही हैं जैसा ब्रह्मा ने हमें गढ़ दिया और अब आगे कुछ नहीं हो सकता। वह यह नहीं समझता कि उसका चरित्र अचेतनता ही में प्रति दिन उन दूसरों के सहचार के कारण परिवर्तित हो रहा है, जिनकी सूचनाओं का हम पान और अनुसरण करते हैं। वह यह नहीं समझता कि "मैं स्वयम् किसी वस्तु में रुचि लगाने और उस पर अपना मन जमाने से अपने चरित्र को गढ़ रहा हूँ।" वह यह नहीं जानता कि अपने चरित्र का रचयिता मैं ही हूँ जिसने जन्मावस्था की अनगढ़ सामग्री से अब इस प्रकार अपने चरित्र को गढ़ डाला है। मनुष्य का अधिकार है कि वह अपने को विध्यात्मक वा निषेधात्यक साधनों से गढ़े। यदि वह अपने को दूसरों के विचारों और आदर्शों के अनुसार ढलने देता है तब तो उसकी गढ़ाई निषेधात्मक साधन द्वारा होती है, और यदि वह अपने को अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार गढ़ता है तो उसकी गढ़न विध्यात्मक साधन द्वारा होती है। प्रत्येक मनुष्य एक या दूसरी रीति से गढ़ा जा रहा है, शायद दोनों रीतियों से निर्बल मनुष्य वह है जो अपने को अन्यों द्वारा गढ़े जाने देता है, वह मनुष्य प्रबल है जो अपनी गढ़न अपने हाथ में रखता है।

चरित्रगठन की रीति इतनी प्रसन्नतापूर्वक सरल है कि इसकी महिमा को लोग जनाये जाने पर भी भुला देते हैं। वस्तुतः अभ्यास करने और उसका फल अनुभव करने पर मनुष्य के हृदय में इसका अद्भुत महत्व अंकित होता है।

योगी शिष्य आरम्भ ही में प्रबल क्रियात्मक उदाहरण द्वारा चरित्रगठन की महिमा और शक्ति की शिक्षा पाता है। उदाहरण के लिये गुरु जब देखते हैं कि शिष्य किसी वस्तु को पसन्द करता है और किसी को नापसन्द करता है तो गुरु उसे पसन्द चीज़ को नापसन्द और नापसन्द चीज़ को पसन्द करने की कामना जगाने की शिक्षा देते हैं। वह सिखाते हैं कि दोनों वस्तुओं पर चित्त को एकाग्र करो एक पर पसन्दगी की भावना से और दूसरी पर नापसन्दगी की भावना से। शिष्य को सिखाया जाता है कि अभीष्ट दशा का मानसिक चित्र खींचो और (उदाहरण के लिये) ऐसा कहो कि मैं "मिसिरी से घृणा करता हूँ, मैं उसका देखना भी नहीं पसन्द करता" और दूसरी ओर "मैं खट्टी चीज़ों को पसन्द करता हूँ, मैं उनके स्वाद में आनन्दमग्न हो जाता हूँ" इत्यादि। साथ ही साथ मीठी वस्तुओं का स्मरण घृणा के साथ और खट्टी वस्तुओं का स्मरण प्रसन्नता के साथ करो। थोड़े काल के उपरान्त मालूम होगा कि विचारों के अनुसार वस्तुतः स्वाद के आनन्द में अन्तर पड़ रहा है, और अन्त में वस्तुएं पूरा २ स्थान परिवर्तन कर लेंगी, तब इस युक्ति की यथार्थता और महिमा शिष्य के मन पर पूरी २ अंकित हो जाती है और वह इस पाठ को कभी नहीं भूलता।

यदि हमारे पाठकों में से कुछ लोग आपत्ति करें कि स्वाद विपर्य्यय की इस स्थिति में शिष्य को छोड़ देना तो अच्छा नहीं है, तो इसके उत्तर में यह कथन है कि योगी लोग पहले इस क्रिया के महत्व को चित्त पर अंकित करने के लिये ऐसा करते हैं, नहीं तो फिर इस स्वादानन्द विपर्य्यय को वैसी ही क्रिया द्वारा हटवा देते हैं। और अन्त में लाभकारी पदार्थों में रुचि और हानिकर पदार्थों में अरुचि शिष्यों ही द्वारा उन के मन में उत्पन्न करा देते हैं। इन सब शिक्षाओं का मूलोद्देश्य स्वाद का जगाना या हटाना नहीं है वरन् मन को शिक्षित करना है, और शिष्य के चित्त पर इस बात को अंकित करना है कि उसकी प्रकृति उसके जीव की वशवर्तिनी है और प्रकृति आकांक्षानुसार बदली जा सकती है--चित्त की एकाग्रता और विचारपूर्वक अभ्यास द्वारा। यदि पाठकों में से किसी की इच्छा हो तो ऊपर लिखी हुई रीति के अनुसार अभ्यास करके परीक्षा कर लें। यदि किसी भोजन को वे नापसन्द करते होंगे तो इस अभ्यास द्वारा पसन्द करने लगेंगे, वैसे ही यदि किसी वस्तु को पसन्द करते होंगे तो ऊपर लिखी रीति से अभ्यास करने से नापसन्द करने लगेंगे। यह बात भोजनों ही पर परिमित नहीं है, उद्यम, रोजगार, कर्तव्यपालन, मनुष्य, कार्य आदि सभी बातों पर घट सकती है।

अचेतन बुद्धि द्वारा चरित्रगठन करने की क्रिया का सारा मूल मंत्र यह है कि जीव मन का स्वामी है और मन जीव की आज्ञा और आकांक्षा के अनुकूल अपनी रुचि, चेष्टा, क्रिया इत्यादि सब कुछ बदल सकता और बदल देता है। मनुष्य में

जीव या "अहम्" ही यथार्थ, स्थायी, और परिवर्तनहीन तत्व है, और मन शरीर की भांति सर्वदा परिवर्तनशील, चलता, बढ़ता और मरता रहता है। जैसे शरीर विचारपूर्वक अभ्यासों द्वारा विकसित और संगठित किया जा सकता है उसी प्रकार मन भी "अहम्" की आकांक्षा द्वारा विकसित, प्रेरित और संगठित किया जा सकता है, यदि विचार पूर्वक रीतियों का अनुसरण किया जाय।

अधिकांश मनुष्य समझते हैं कि चरित्र कोई निश्चल वस्तु है, जो मनुष्य से सम्बन्ध रखता है और बदला या पलटा नहीं जा सकता, पर तौभी अपनी नित्य की क्रियाओं द्वारा वे दिखलाते हैं कि अन्त:करण से वे इस बात पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे अपने पास के मनुष्यों के चरित्रों के गढ़ने और सुधारने में सर्वदा यत्नशील रहते हैं और इसी अभिप्राय से वचन, उपदेश, सलाह, प्रशंसा, डांट, झिड़की आदि का बर्ताव किया करते हैं।

चरित्र के कारणों के विचार में प्रवेश करने की आवश्यकता इस पाठ में नहीं है। हम इतना ही बतला कर यहां संतोष करेंगे कि चरित्र के नीचे लिखे हुए कारण हैं:— (१) पूर्व जन्म के अनुभवों का परिणाम, (२) पैत्रिकदाय, (३) सहचार अर्थात् संगति, (४) अन्य सूचना अर्थात् अन्यों द्वारा प्रेरणा, और (५) स्वतः सूचना अर्थात् स्वतः प्रेरणा। परन्तु किसी का चरित्र कैसा ही क्यों न बना हुआ हो, वह सुधारा, गढ़ा, और बदला जा सकता है, उन्हीं रीतियों द्वारा जिन का ऊपर वर्णन किया गया है।

अभीष्ट दशा की प्राप्ति के लिये पहली आवश्यक बात यह है कि आकांक्षा होनी चाहिये। जब तक अन्त:करण से आकांक्षा न होगी तब तक उसकी आकांक्षा फलवती न होगी। कामना और आकांक्षा में घना सम्बन्ध है। आकांक्षा कुछ नहीं कर सकती यदि वह कामना से प्रेरित न हो। बहुत से लोग कामना शब्द का व्यवहार नीच वृत्तियों के द्योतन में करते हैं परन्तु कामना उच्च वृत्तियों की अभिलाषा में भी वर्तमान है। यदि कोई मनुष्य नीच कामना का प्रतिरोध कर रहा है तो वह इसी कारण से ऐसा कर रहा है कि अब उसके अत:करण में उच्च कामना का निवास हो गया है। बहुत सी कामनाएँ दो या अधिक प्रतिद्वंद्वी कामनाओं के मध्य सुलहनामा अर्थात् अवसत निकाली हुई कामनाएँ हुआ करती हैं।

जब तक मनुष्य अपने चरित्र के बदलने की कामना न करेगा तब तक वह उसकी ओर तनिक भी गति न कर सकेगा। और कामना की प्रबलता ही के अनुसार वह आकांक्षा शक्ति होगी जो कार्य के साधन में प्रयोग की जावेगी। चरित्रगठन में पहली बात चरित्र गठन की चाहना है। यदि मनुष्य को विदित हो जाय कि हमारे भीतर चरित्रगठन की चाहना ही में कमी है, तो पहले उसको इस चाहना को जगाना चाहिये।

यह चाहना या कामना उस वस्तु के ऊपर चित्त को एकाग्र करने से उत्पन्न होती है। यह नियम दोनों ओर काम करता है जैसा कि बहुत से आदमियों के सिर इसकी पीड़ाओं और कष्टों को भोगना पड़ा है। इस प्रकार विहित ही कामना नहीं उत्पन्न होती, किन्तु निषिद्ध कामना भी उत्पन्न हो जाती

है। थोड़े विचार से इस कथन की यथार्थता आप पर प्रगट हो जावेगी। कल्पना कीजिये कि कोई नवयुवक है जो प्रमत्त जीवन जीने की कामना नहीं रखता। परन्तु कुछ समय के पश्चात् वह ऐसे जीवन जीनेवालों के विषय में सुनता है या पढ़ता है और वह अपने मन को इस विषय में दौड़ लगाने देता है, बार २ उसी विषय को मनसा उलटता पलटता है और अपनी कल्पना में उस विषय की सैर करता है। थोड़े समय में कामना का बीज जड़ और अंकुर फेकने लगता है और यदि वह यों ही अपनी कल्पना द्वारा सैर करके उस बीज का सिंचन करता रहा तो वह कामना विकसने की अवस्था को पहुँच जावेगी और कार्यरूप में परिणत होने की चेष्टा करेगी। बहुत से मनुष्यों के मन में इसी प्रकार से अनिष्ट कामनाओं का बीज वपन हो गया है और इसी प्रकार सिंचन पाकर वह विषफल फलनेवाला हुआ है। हमने इस बात का उल्लेख कर देना यहां उचित समझा है क्योंकि इसका प्रकाश अन्य बातों पर पड़ेगा और आपके मन में जो विष की बेलियों के पौधों के बीजों का वपन हो रहा है या घास-पात जम रहे हैं उनसे आप सावधान हो जायँगे।

परन्तु स्मरण राखिये कि जो बल आपको नीचे ले जाता है उसीको यदि आप परिवर्तित कर दें तो वही आपको ऊपर ले जाने लगेगा। जैसे विष का बीज वपन हो गया वैसे ही अमृत का भी बीज बोया जा सकता है। अनिष्ट कामना के स्थान में अभीष्ट कामना का बीज बोया जा सकता है। यदि आप अपने चरित्र में किसी कमी या त्रुटि के अभिज्ञ हैं

(और कौन नहीं हैं ?) और उस त्रुटि के दूर करने की प्रबल कामना आप के मन में नहीं है तो आप उस कामना के बीज को मन में बोइये और उसका सिंचन कीजिये। आप उस त्रुटि के दूर हो जाने के अभीष्ट अनुभावों पर चित्त को एकाग्र कीजिये, अपने मन में बार २ उस पर विचार कीजिये, अपने को उस गुण से युक्त कल्पना कीजिये। तब आपको मालूम होगा कि उस अनुभाव की कामना आपके मन में उग और अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो रही है। और जब आपके हृदय में चाहना प्रबल हो जायगी तो आपके मन में ऐसी भावना का उदय होगा कि कैसे उतनी आकांक्षा हो जाय कि कार्य सिद्ध हो। पहले कामना जगाइये फिर उसी के पीछे कार्य सिद्ध करने की आकांक्षा भी जगेगी। प्रबल कामना के दबाव में पड़ कर मनुष्यों ने ऐसे कार्य कर दिये हैं जो करामात के समान हो गये हैं।

यदि आप को ऐसा मालूम हो कि आपके भीतर ऐसी कामनाएं हैं जो आपके लिये हानिकर हैं, तो आप उन्हें अवधान का भोजन न देकर और निरवधान भूखों मार कर दूर कर सकते हैं और साथ ही साथ अवधान देकर विरोधी कामनाओं को उगा सकते हैं। निषिद्ध कामनाओं की ओर अवधान न देने से आप उनके मानसिक भोजन को रोक सकते हैं क्योंकि इसी अवधान रूपी भोजन ही से उनका पोषण होता है। जैसे आप किसी पौधे को उर्वरा मिट्टी और जल न देकर भूखों मार सकते हैं वैसे ही अनिष्ट कामनाओं को मानसिक भोजन न देकर भूखों मार सकते हैं। इसको

स्मरण रखिये, क्योंकि यह बहुत ही मुख्य बात है। ऐसी कामनाओं की ओर मन को मत जाने दीजिये और अवधान को दृढ़ता से वहां से हटाये रहिये, विशेष करके कल्पना को वहां कदापि न जाने दीजिये। आरम्भ में इसमें थोड़ी दृढ़ आकांक्षा की आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु ज्यों ज्यों आप उन्नति करते जायँगे त्यों त्यों यह बात सरल होती जायगी, और प्रत्येक विजय से आपको आगे के युद्ध के लिये नया बल प्राप्त होता जायगा। परन्तु अनिष्ट कामना के साथ मेल न किजिये और न किसी प्रकार उससे संधि कीजिये। इस प्रकार के युद्ध में प्रत्येक विजय से नया बल प्राप्त होता है और प्रत्येक हार से पुराना बल भी छीजता है।

जब आप अनिष्ट कामना की रोक करें तो साथ ही उसके विपरीत कामना को भी जगावें। इस विपरीत कामना की मानसिक मूर्ति खड़ी कीजिये और बार २ उधर ख्याल ले जाइये। अपने मन को रुचि के साथ उस पर लगाइये और कल्पना द्वारा उसका रूप खड़ा कर दीजिये। उस समय के लाभों की चिन्तना कीजिये जब आप इसे प्राप्त कर लेंगे। कल्पना कीजिये कि आपने इसे पूरा २ प्राप्त कर लिया है और आप इस नयी शक्ति द्वारा नये २ कार्य दृढ़ता पूर्वक कर रहे हैं।

इन सब बातों से आप उस स्थिति को पहुँच जायँगे जहां इस शक्ति के प्राप्त करने की चाहना का उदय होगा। तब आप को दूसरी सीढ़ी श्रद्धा अर्थात् विश्वास पूर्वक आशा पर चरण रखना होगा।

यह श्रद्धा या विश्वास सहित आशा सब मनुष्यों में आप

से आप नहीं होती, ऐसी दशा में इसे भी क्रमशः जगाना होगा। आप लोग जो इन बातों का अध्ययन कर रहे हैं, उनमें से बहुतों को तो इस विषय को समझ ही लेने से श्रद्धा उत्पन्न हो जायगी। परन्तु उन लोगों के लिये जिनमें इसका अभाव है, हम सलाह देते हैं कि वे मानसिक गठन की किसी छोटी बात को लें—चरित्र के किसी छोटे अनुभाव को जिस में विजय प्राप्त करना सीधा और सरल हो। इस कक्षा से आरम्भ करके तब वे क्रमशः कठिन और अधिक कठिन कार्यों को उठावें, जब तक उनको श्रद्धा या सविश्वास आशा का उदय धीर अभ्यास द्वारा प्राप्त न हो जाय।

जितनी ही श्रद्धा और सविश्वास आशा की मात्रा अधिक होगी और जितनाही अधिक इसका प्रयोग चरित्र गठन में किया जायगा, उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी। यह बात मनोविज्ञान के विख्यात नियम के अनुकूल ही होती है। श्रद्धा और विश्वास से मानसपथ साफ हो जाता है और कार्य सरल हो जाता है। संशय और अश्रद्धा से कार्य सिद्धि में बाधा पहुँचती है और ये मार्ग में अवरोधक बन जाते हैं। दृढ़ कामना और श्रद्धाविश्वास आवश्यक अंग हैं। तीसरी आवश्यक वस्तु आकांक्षा है।

आकांक्षा से हमारा अभिप्राय मुट्ठी बांध, भौंहें सिकोड़ तनतना कर जोर लगाने से नहीं है जैसा कि प्रायः लोग आकांक्षा या संकल्प शक्ति के प्रयोग में समझते हैं। आकांक्षा इस प्रकार नहीं प्रगट होती। सच्ची आकांक्षा का प्रयोग अपने भीतर "अहम्" भाग को पहचानने और शक्ति तथा बल के उसी

केन्द्र से आज्ञा के प्रेरित करने से होता है। आकांक्षा "अहम्" की वाणी है और इस चरित्रगठन के कार्य में इस आकांक्षा की आवश्यकता है।

अब जब आपके पास तीनों बातें (१) प्रबल कामना, (२) श्रद्धा और विश्वास, तथा (३) आकांक्षा शक्ति होगई तो आप कार्य के लिये कटिबद्ध होगये। इस त्रिगुण शस्त्र से आप अवश्य सिद्धि प्राप्त कर लेंगे।

अब वास्तविक कार्य आता है। पहली बात यह है कि चरित्राभ्यास (चाल-चलन की आदत) का पथ निर्धारित किया जाय। हाँ, आदत! यही आदत सारी बात का मूल मंत्र है। हमारी चालचलन पैत्रिक या स्वयमर्जित आदतों ही से बनती है। इस पर थोड़ा विचार कीजिये तब आप इस की यथार्थतां को समझ जाँयगे। आप बिना सोचे विचारे किसी बात को कर डालते हैं क्योंकि आपको उसकी आदत है। आप एक खास तरीक़े से काम करते हैं क्योंकि वैसे ही करने की आपको आदत है। आप सच्चे ईमानदार और पुण्यात्मा हैं क्योंकि आपने वैसे ही रहने की आदत डाल ली है। क्या इसमें आपको सन्देह है? तब अपनी चारो ओर देखिये, या अपने ही हृदय में देखिये तो आपको विदित होगा कि आप ने कुछ पुराने कर्मों की आदत छोड़ दी है और नयों की अर्जित कर ली है। चरित्रगठन आदत डालना है। चरित्र परिवर्तन आदत का बदलना है। इस बात को मन में खचित कर लेने से आपको बहुत लाभ होगा क्योंकि इसके द्वारा आपको इस विषय सम्बन्धी अनेक बातों के मूलमंत्र मालूम होंगे।

यह भी स्मरण रखिये कि आदत पूर्णतया अचेतन मनन का विषय है। यह सत्य है कि आदत की उत्पत्ति सचेत मन से होती है, परन्तु जब आदतें जम जाती हैं तब वे अचेतन मनन के क्षेत्र में डूब जाती हैं और दूसरी प्रकृति बन जाती हैं, जो प्रथम प्रकृति से भी अधिक बलवती हो जाती हैं। ड्यूक आफ़ वेलिंगटन कहा करते थे कि "आदत दस प्रकृतियों का बल रखती है और वे अपनी सेना में ड्रिल की इतनी आदत डाल देते थे कि ठीक उसी अन्तर्प्रविष्ट ड्रिल ही के अनुसार योद्धाओं की क्रियायें होती थीं। डारविन साहब उदाहरण देते हैं कि आदत बुद्धि के ऊपर अधिकार जमा लेती है। वह कहते हैं कि भय उपस्थित होने पर पीछे चौंक पड़ने की आदत मनुष्य को ऐसी पड़ जाती है कि आकांक्षा कितना ही जोर लगावे तो भी मनुष्य काच के पिंजड़े के ऊपर उस स्थान पर हाथ नहीं रक्खे रह सकता जहां पिंजड़े के भीतर का सर्प अपने फन से झपट्टा मारता हो, यद्यपि मनुष्य जानता है कि काच का दल इतना मोटा है कि सांप से कोई भय नहीं है। परन्तु हम कह सकते हैं कि मनुष्य इस सुदृढ़ अंकित आदत को भी, अचेतन मनन की शिक्षा और विचार करने की नई आदत को पैदा करके, दमन कर सकता है।

नयी आदत की केवल आकांक्षा ही करने के समय नये मानसिक पथ के निर्माण का कार्य नहीं होता। सच तो यह है कि योगियों का विश्वास है कि कार्य का प्रधान भाग चेतना में आकांक्षा की आज्ञा के पश्चात उसी प्रकार होता है जैसे किसी प्रश्न के हल करने का कार्य, जिसका ऊपर वर्णन हो

चुका है, आकांक्षा के पश्चात् अचेतन दशा में होता है। उदाहरण के लिये हम किसी शारीरिक आदत को पैदा करने की ओर आपका अवधान आकर्षित कर सकते हैं। किसी शारीरिक क्रिया को सन्ध्या को सीखिये तो दूसरे सुबह उस क्रिया को कर देना उसकी अपेक्षा अधिक सरल होता है जब आप उसी रात को किये होते, या आगामी सोमवार को सुबह और अधिक अच्छा होगा, पहले शनिवार की सन्ध्या की अपेक्षा। सर्वोत्तम उपाय यह है कि बार २ स्पष्ट अंकन किया जाय और तब उचित अवकाश दिया जाय कि अचेतन मनन उस कार्य को कर डाले। स्पष्ट अंकन से हमारा अभिप्राय उस अंकन से है जो प्रबल अवधान पूर्वक दिया जाय, जैसा कि हम इस पुस्तक के पहले पाठों में कह आये हैं।

एक लेखक ने कहा है कि "क्रिया का बीज बोवोगे तो आदत फल पावोगे, आदत बोवोगे तो चरित्र फल पावोगे, चरित्र बोवोगे तो भाग्यरूपी फल पावोगे"। इस प्रकार आदत ही चरित्र की प्रधान सामग्री है। हम लड़कों को शिक्षा देने में इस तत्व की यथार्थता को मानते हैं कि उसे अच्छी आदत पकड़वा कर अच्छे चरित्रवाला बनाने में पूरी दृष्टि रखते हैं। आदत जब जम जाती है तो प्रेरक बल का काम देती है, इस प्रकार जब हम समझते हैं कि बिना किसी प्रेरणा के हम कोई काम कर रहे हैं, तौ भी सम्भव है कि हम किसी सुदृढ़ पड़ी हुई आदत की प्रेरणा से उस कार्य को कर रहे हों। हर्बर्ट स्पेन्सर साहब कहते हैं कि ईमानदारी का आदी मनुष्य उचित ही कार्य करता है, चेतनापूर्वक यह समझ कर नहीं कि

मुझे ऐसा करना ही चाहिये, किन्तु, केवल सीधे सन्तोष के साथ, क्योंकि जब तक उसे वह कर नहीं लेता तब तक उसके मन में उद्वेग सा बना रहता है। कुछ लोग यह आपत्ति लावेंगे कि चरित्र का आधार इस आदत की भावना को मानने से विकसित धार्मिक अन्तःकरण की भावना जाती रहती है। परन्तु हमारा कथन यह है कि उच्च चरित्र के जगाने के पहले उसका चाहना आवश्यक है और यही चाहना धार्मिक अन्तःकरण का चिन्ह है न कि आदत का। यही बात किसी विषय के उचित होने की दशा में भी है। सचेतन मन में प्रारम्भ में यह बात उदित होती है कि अमुक कार्य उचित है, और उसकी आदत जगाने में प्रेरणा करती है, कुछ समय के पश्चात् वही बात स्वतःप्रवृत्त हो जाती है, अचेतन मनन की बात हो जाती है, औचित्य का विचार जाता रहता है। तब वह रुचि की बात रह जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्र का गठन, सुधार, परिवर्तन और निर्माण अधिकांश आदत पैदा करने का मामला है। अब आदत पैदा करने का सर्वोत्तम पथ क्या है, यह दूसरा प्रश्न होता है। योगी का उत्तर यह है कि "मानसिक मूर्ति खड़ी करो तब उसीके गिर्द आदत की स्थापना करो।" इसी वाक्य में सारी पद्धति भरी हुई है।

जितने रूपवाले पदार्थ हैं वे सब मानसिक मूर्ति के चारो ओर बने हैं—चाहे वह मानसिक मूर्ति मनुष्य, पशु या परम पुरुष की हो। यही विश्व का नियम है और चरित्रगठन के मामिले में भी हम उसी प्रधान नियम का अनुसरण करते हैं।

जब हम कोई गृह बनाना चाहते हैं तो पहले गृह का साधारण ख्याल करते हैं। तब सोचने लगते हैं कि कैसा गृह। तब हम उसके विवरण में जाते हैं। तब किसी विश्वकर्मा की सलाह लेते हैं, वह हमें एक मानचित्र बना देता है, जो मानचित्र उसके मानसिक चित्रण की प्रतिमूर्ति है, जो हमारी इच्छा की प्रेरणा से बनी है। जब मानचित्र निश्चित हो गया तब हम कारीगर लगाते हैं और अन्त में गृह पूरा बन जाता है—जो मानसिक मूर्ति की भौतिक चरितार्थता है। यही बात सब सृष्टि की वस्तुओं के विषय में है—सब मानसिक मूर्ति का आविर्भाव है।

इसलिये जब हम चरित्र के किसी अनुभाव की स्थापना किया चाहते हैं तो हमको अपने अभीष्ट अनुभाव की मानसिक मूर्ति साफ़ और स्पष्ट बना लेनी चाहिये। यह प्रधान क्रिया है। अपने चित्र को साफ और स्पष्ट बनाइये, तब उसे मन में लगा दीजिये और तब उसके गिर्द रचना प्रारम्भ कीजिये। अपने विचार को उसी मानसिक चित्र में लगाये रहिये। अपनी कल्पना को यह देखने दीजिये कि आप अभीष्ट अनु-भाव पाये हुए हैं और उसीके अनुसार व्यवहार कीजिये—लगातार धैर्य के साथ यह कल्पना कीजिये कि आप अनेक भिन्न भिन्न दशाओं में उसी अनुभाव के अनुसार कार्य कर रहे हैं। ज्यों ज्यों आप इसे करेंगे त्यों त्यों आपको जान पड़ेगा कि आप उस विचार को क्रिया में प्रगट कर रहे हैं—मान-सिक मूर्ति को भौतिक रूप में चरितार्थ कर रहे हैं—अपनी कर रहे हैं। अपनी मानसिक मूर्ति के अधिक और अधिक

अनुसार कार्य करना आपके लिये स्वाभाविक होता जायगा, और अन्त में यह नई आदत आपके मन में सुदृढ़रूप से खचित हो जावेगी और आपकी रहन चलन की स्वाभाविक रीति सी बन जावेगी।

यह अनिश्चित कल्पित युक्ति नहीं है। यह विख्यात मनोवैज्ञानिक बात है और इसके द्वारा सहस्रों नर नारियों ने अपने चरित्रों में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर लिया है।

इस प्रकार मनुष्य अपने धार्मिक ही चरित्र को नहीं उन्नत कर सकता, किन्तु वह अपने कामकाजी आपे को भी सुधार कर वर्तमान स्थिति की आवश्यकताओं और जीविका के अनुकूल बना सकता है। यदि किसी मनुष्य में धैर्य की कमी है तो वह उसे प्राप्त कर सकता है, यदि किसी मनुष्य के मन में भय भरा हुआ है तो वह उसे निर्भय बना सकता है, यदि किसी मनुष्य में आत्म-विश्वास का अभाव है तो वह उसे प्राप्त कर सकता है। चरित्र गठन की इस रीति से मनुष्यों ने अपने को नया बना लिया है। वर्तमान मनुष्यों के सम्बन्ध में यह बड़ी कठिनता है कि वे जानते ही नहीं कि हम यहाँ तक कर सकते हैं। वे समझते हैं कि जैसा हम बन गये बस वैसा ही रहने के लिये हम बाध्य हैं। वे यह नहीं जानते कि रचना का कार्य समाप्त नहीं हुआ है और उन्हीं के भीतर सृजन करनेवाली शक्ति उन्हीं की आवश्यकताओं के अनुकूल है। जब मनुष्य इस बात की यथार्थता को जान लेता है और तजर्बा द्वारा इसकी यथार्थता का प्रमाण पा जाता है तब वह दूसरा मनुष्य हो जाता है। वह अपने को अपने अरोस परोस

और शिक्षा से बहुत ऊँचे पाता है—उसे जान पड़ता है कि हम इन वस्तुओं के ऊपर सवार हो कर चल सकते हैं। वह अपना परोस और अपनी शिक्षा आप बना लेता है।

इंगलेंड और संयुक्त देशों के किसी २ स्कूल में कतिपय विद्यार्थी, जो अपने को अपने शासन में रखने की शक्ति विकसित और प्रगट किये रहते हैं, उस कक्षा में लिखे रहते हैं, जिसे आत्मशासित कक्षा कहते हैं। जिन लड़कों का नाम इस कक्षा में होता है वे मानो हर्बर्टस्पेन्सर साहब के इस कथन को अपनी स्मृति में अंकित कर लिये होते हैं कि "आत्मशासन की महिमा आदर्श मनुष्य की पूर्णताओं का एक अंग है—आवेग की प्रेरणा में न रहे, प्रत्येक कामना के वश में हो कर इधर उधर मारा २ न फिरे परन्तु आत्मशासित रहे, सब भावनाओं की कौंसिल में जो बात निश्चित हो उसी का अनुसरण करे—यही धार्मिक शिक्षा का उद्देश है"। इस पाठ के लेखक की यही कामना है कि प्रत्येक शिष्य इस आत्मशासित कक्षा में हो जाय।

प्रत्येक व्यक्ति की विशेष २ आवश्यकताओं के अनुकूल भिन्न २ चरित्र के गठन की भिन्न २ शिक्षा इस एक पाठ में देने का प्रयत्न हम न करेंगे। परन्तु हम समझते हैं कि इस विषय में हम जो कुछ ऊपर कह आये हैं वह इस बात के लिये पर्य्याप्त होगा कि प्रत्येक शिष्य अपने अनुकूल शिक्षा आप ही आप, ऊपर लिखी रीति से प्राप्त कर ले। शिष्य की सहायता के लिये चरित्र के एक मुख्य अनुभाव के जगाने की विशेष रीति हम यहाँ सिखा देते हैं। शिष्य यदि अपनी बुद्धि

से काम लेगा तो अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल अनुभावों के जगाने में ऊपर लिखी रीतियों द्वारा समर्थ हो जायगा। हम जिस अनुभाव के विषय में शिक्षा दिया चाहते हैं वह यह है कि एक ऐसा शिष्य है जिसमें यह दोष है कि "उस में धार्मिक वीरता का अभाव है—आत्म विश्वास नहीं—अन्य मनुष्यों के सम्मुख अपने सच्चे पक्ष के प्रतिपादन में भी हिचक जाता है—दूसरों के निर्बल पक्ष को भी न करने की शक्ति नहीं है। जिनकेसम्मुख जाता है उन्हीं की अपेक्षा लघुता का भाव अपने में आरोपण करता है।" ऐसे शिष्य के लिये जो शिक्षा दी गई उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है:—

प्रारम्भिक विचार। अपने मन में यह बात स्पष्ट और दृढ़ अंकित कर लो कि मैं, कोई कैसा भी मनुष्य क्यों न हो, उसके बराबर हूँ। तुम भी उसी स्थान से उत्पन्न हुए हो। तुम भी उसी एक जीवन का विकास हो। परम पुरुष की दृष्टि में तुम किसी मनुष्य के भी, यहां तक कि भूमि के उच्च से उच्च मनुष्य के भी बराबर हो। सच बात तो वह है जैसा उसे परमेश्वर देखता हो—यथार्थ में तुम और कोई मनुष्य बराबर हो और अन्त में एक ही हो। छोटाई और लघुता की कुल भावनाएँ भ्रम, गलत और झूठी हैं और यथार्थ में अस्तित्व नहीं रखतीं। जब दूसरों की संगति में हो तो इस बात को स्मरण करो और अनुभव करो कि तुम में की जीवनसत्ता उनमें की जीवनसत्ता से बात कर रही है। जीवनसत्ता को अपने में हो कर प्रवाहित होने दो और अपने व्यक्तिगत आपे को भुला दो। साथ ही साथ अपने संगी को भी उसी जीवन-

सत्ता में प्रवाहित देखो। वह अपनी व्यक्ति द्वारा उसी प्रकार उस जीवनसत्ता को छिपा रहा है जैसे तुम। न तुम से बढ़ कर, न तुम से घट कर। यथार्थ में तुम दोनों एक हो। "अहम्" की चेतना को झलकने दो तब तुम्हें उच्चता का और साहस का अनुभव होगा, और दूसरा भी ऐसा ही अनुभव करेगा. आपके भीतर ही शारीरिक और धार्मिक साहस का उत्पत्तिस्थान है। इस संसार में कोई भी बात डरने की नहीं है। निर्भयता तुम्हारी स्वर्गीय सम्पत्ति है, उससे लाभ उठाओ। तुममें आत्म चेतना है क्योंकि तुम्हारा "अहम्" ही आत्मा है, यह तुच्छ व्यक्ति आत्मा नहीं है और तुम्हें उस "अहम्" में विश्वास रखना चाहिये। अपने भीतर घुसते चले जावो जब तक "अहम्" की उपस्थिति में न पहुँच जावो और तब तुम्हें वह आत्मविश्वास प्राप्त हो जावेगा जिसे कोई भी विचलित न कर सकेगा। एक बार जब "अहम्" की स्थायी चेतना को प्राप्त कर लोगे तब तुम्हें स्थैर्य मिल जायगा। एक बार जब अनुभव कर लोगे कि तुम शक्ति का केन्द्र हो तब तुम्हें उचित स्थान और अवसर पर "नहीं" कह देने में कठिनता न होगी। एक बार जब अपनी यथार्थ प्रकृति—अपने यथार्थ आपा—को पहचान जाओगे तो लघुता और तुच्छता की सारी भावना जाती रहेगी और तुम जान जावोगे कि तुम एक जीवन का आविष्कार हो और सारी समष्टि (सृष्टि) की दृढ़ता, शक्ति और महिमा तुम्हारे पीछे लगी है। अपने को अनुभव करते हुए प्रारम्भ करो और नीचे लिखी रीति से मन की शिक्षा करते हुए आगे बढ़ो।

शब्दमूर्तियाँ। किसी भावना की चारों ओर रचना करना कठिन है जब तक भावना शब्दों में न प्रगट की जाय। शब्द ही भावना का केन्द्र है, जैसे भावना मानसिक मूर्ति की केन्द्र है, और मानसिक मूर्वि बढ़ती हुई मानसिक आदत का केन्द्र है। इस लिये योगी लोग इस रीति से शब्दों के व्यवहार पर अधिक जोर देते हैं। आपके सम्मुख जो मामला उपस्थित है उस मामले में आप अपने मन के सम्मुख कुछ ऐसे शब्दों को उपस्थित कीजिये जो मुख्य विचार को जमा सके। हम इन शब्दों की सलाह देते हैं:—"मैं हूं, साहस, विश्वास, स्थैर्य, दृढ़ता, समता।" इन शब्दों को स्मरण कर लो और प्रत्येक शब्द के अर्थ की भावना को मन में खचित कर लेने की चेष्टा करो जिससे जब २ तुम एक २ शब्द को उच्चारण करते चलो तब २ उस शब्द के अर्थ की भावना तुमारे मन में जग उठती जाय। सुग्गे की भांति उच्चारण मात्र मत करो। प्रत्येक शब्द के अर्थ को स्पष्ट मन के सम्मुख उपस्थित हो जाने दो जिससे कि जब तुम उसको उच्चारण करो उसके अर्थ का भी अनुभव करते जाओ। बार २ शब्दों का उच्चारण करो जब २ अवसर मिले, और तुम्हें शीघ्र जान पड़ने लगेगा कि ये शब्द मानसिक पुष्टि का काम कर रहे हैं, शक्ति उत्पन्न कर रहे हैं। जितनी बार अर्थ सहित तुम शब्दों का उच्चारण करोगे उतना ही अधिक तुम्हारा अभीष्ट मानसिक पथ साफ़ होगा।

अभ्यास। जब तुम्हें अवकाश मिले और तुम मानस लोकों की सैर का अवसर पाओ कि जीविका के कार्यों में हानि न आवे तब अपनी कल्पना शक्ति से काम लो और कल्पना करो कि उन शब्दों

से द्योतितगुण सब तुम में हैं। अपने को एक बहुत बड़े मनुष्य के सम्मुख कल्पना करो और यह कि तुम उस मनुष्य के सम्मुख अभीष्ट गुणों का व्यवहार कर रहे हो और उन्हें पूरे रूप से प्रगट कर रहे हो। ऐसी कल्पनाओं के करने में संकोच मत करो क्योंकि आगे आनेवाली बातों की ये भविष्यद्वाणियाँ हैं और तुम आगे आनेवाले दृश्य का अभिनय अभी से कर रहे हो। अभ्यास से सिद्धि प्राप्त होती है और यदि तुम कल्पना ही में किसी विशेष रीति से अभ्यास करोगे तो जब वास्तविक अवसर आवेगा उस समय इसका बर्ताव करना तुम्हें बहुत सरल हो जावेगा। तुम में से बहुतों को यह बच्चों का खेल प्रतीत होगा, परन्तु तुम में से यदि कोई नाटक का अभिनेता हो तो उससे सलाह लो, वह हमारे कथन का समर्थन्न करेगा। वह बतला देगा कि बार २ के अभ्यास का क्या फल होता है। जैसा तुम बनना चाहो वैसा पहिले निश्चय कर लो फिर उसके लिये अभ्यास करो, अपने आदर्श को लगातार अपने मन के सम्मुख रक्खो और उसीके अनुकूल बनने का प्रयत्न करो। यदि तुम धैर्य रक्खोगे तो सफल हो जाओगे। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रक्खो कि अपने भीतर ही भीतर अभ्यास करके सन्तुष्ट मत हो जाओ। अवसर आने पर संसार में भी उसे कर दिखाओ। जब मानसिक अभ्यास कुछ हो जाय तो नित्य के जीवन में भी उसका बर्ताव करो। पहले छोटे मामले लो और उनमें इसका बर्ताव करो। तुम्हें मालूम होगा कि पहले जहाँ तुम्हें बड़ा संकोच होता था वहाँ अब तुम संकोच का दमन कर सकते हो। तुम अपनी बढ़ती

हुई उस शक्ति से अभिज्ञ हो जाओगे जो तुम्हारे ही भीतर से प्रगट हो रही है, और तुम्हें मालूम होगा कि तुम एक नये मनुष्य हो गये हो। जभी अच्छा सुअवसर मिले तभी अपने विचारों को कार्य में प्रगट होने दीजिये परंतु अपनी शक्ति की परीक्षा करने के लिये बलात अवसर न लाइये। उदाहरण के लिये मनुष्यों से याचना कराके नहीं मत कीजिये। आपको बिना अपनी प्रेरणा किये ही अलम् सुअवसर प्राप्त होते रहेंगे। मनुष्यों की आंख में ताकने के अभ्यासी बनो, साथ ही जो शक्ति तुम्हारे भीतर और तुम्हारे पीछे है उसका अनुभव करते रहो। तुम शीघ्र उनके व्यक्तित्व में होकर देखने लगोगे और अनुभव करोगे कि वह भी एक जीवन का अंश मात्र है और दूसरे मनुष्य की ओर देख रही है और इस लिये संकोच करने की और भयभीत होने की कोई बात नहीं है। अपने असली आपे का अनुभव तुम्हें इस योग्य बना देगा कि तुम कठिन अवस्था में भी अपने स्थैर्य को कायम रख सकोगे, यदि तुम अपने व्यक्तित्व की लघुता की झूठी भावना को दूर हटा फेंकोगे। अपने लघु व्यक्तित्व को थोड़े काल के लिये भुला दो और अपने मन को उस विश्व के आपे में लगा दो जिस का तुम एक अंग हो। जो बातें तुम्हें कष्ट देती हैं वे व्यक्तिगत जीवन की हैं, और उन्हीं को जब विश्वजीवन की दृष्टि से देखोगे तो वे माया और भ्रम प्रतीत होंगी।

नित्य प्रति के जीवन में विश्वजीवन को यथा साध्य अपने साथ रक्खो। यह विश्वजीवन नित्यजीवन से उतना ही सम्बन्ध रखता है जितना अन्यत्र से रखता है, और यह

तुम्हारे कामकाजी जीवन की व्यग्र अवस्थाओं मे शक्ति का पुंज और शान्त आश्रय का काम देगा।

सर्वदा स्मरण रक्खो कि आपा ही मानसिक दशाओं और आदतों का स्वामी है, और आकांक्षा आपा का औजार है और यह आकांक्षा सर्वदा आपा के व्यवहार में आने के लिये प्रस्तुत है। अपने आपको उन मानसिक आदतों के जगाने की प्रबल कामना से भर दो जिनसे तुम प्रबल और शक्तिमान हो सकते हो। प्रकृति का उद्देश अपने को प्रबल व्यक्ति में आविर्भूत करने का है और वह तुम्हें प्रबल शक्तिमान बनाने के लिये सहायता देने में प्रसन्न होगी। जो मनुष्य अपने को प्रबल बनाना चाहता है, वह सर्वदा प्रकृति की महती शक्ति को अपने कार्य में सहायक पावेगा क्योंकि वह प्रकृति के उस प्यारे अभीष्ट को चरितार्थ कर रहा है जिसके लिये वह युगा से प्रयत्न कर रही है। जिस बात से आप अपनी प्रभुता का अनुभव और विकास करते हैं, वह बात आपको शक्तिमान बनाती है और प्रकृति की सहायता को आपके आधीन करती है। इसको आप नित्य के जीवन में देख सकते हैं। प्रकृति प्रबल व्यक्ति को देख कर आह्लादित होती है और उसे और भी अधिक प्रबल बनाने की चेष्टा करती है। प्रभुता से हमारा अभिप्राय आपको नीच वृत्तियों तथा बाह्य प्रकृति के ऊपर प्रभुता रखने का है। "अहम्" ही प्रभु है, उस बात को कभी मत भूलिये। ऐ मेरे शिष्यो, अहम् को सर्वदा प्रतिपादित करते रहिये। आपके साथ सर्वदा शान्ति विराजे।

मंत्र ।

मैं अपनी मानसिक आदतों का स्वामी हूँ । मैं अपने चरित्र पर शासन रखता हूँ । मैं प्रबल होने की आकांक्षा करता हूँ और प्रकृति की शक्तियों को अपनी सहायता में खींचता हूँ ।

बारहवाँ पाठ।

अचेतन प्रभाव।

इस पाठ में अचेतन मनन के ऐसे पटल का हम वर्णन करेंगे जिस पर पश्चिमी लेखकों और शिष्यों के कतिपय सम्प्रदायों ने पिछले २० वर्षों में बहुत अधिक ध्यान दिया है, परन्तु खेद है कि यह विषय लोगों के समझ में अच्छी तरह नहीं आया और उन लोगों में से बहुतों ने इसका कुप्रयोग भी अधिक किया जो इसकी ओर आकर्षित हुए। हमारा अभिप्राय उस विषय से है जिसे लोग "विचार की शक्ति" कहते हैं। यद्यपि यह शक्ति बहुत असली है और प्रकृति की अन्य शक्तियों की भांति नित्य प्रति के जीवन में बर्ती जा सकती है, पर तौभी मानस शक्ति के बहुत से शिष्यों ने इसका कुव्यवहार किया है और ऐसी २ नीच बातों में इसका प्रयोग किया है जो वाम मार्गियों के योग्य थीं। हम चारो ओर स्वार्थ और नीच उद्देश्यों से इसका प्रयोग सुनते हैं। जिन लोगों ने इन अभ्यासों का साधन किया है वे इसके गूढ़ रहस्यों को न जानते थे और इसका भयंकर प्रतिफल स्वयम् उन्हींको भोगना पड़ा। इस मानसिक बल के अनुचित व्यवहार के प्रतिफल के विषय में लोगों की अनभिज्ञता देख कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ, और इस शक्ति का स्वार्थसाधन में कुव्यवहार की अधिकता भी देख कर आश्चर्य हुआ। उस दशा में और भी

अचरज होता है जब कि सच्चा रहस्यवेत्ता जानता भी रहता है कि उन लोगों के लिये भी जो मानसिक शक्तियों की सफलता चाहते हैं ये बातें अनावश्यक हैं। मानसिक बलों के प्रयोग की उचित रीति है वैसे ही अनुचित रीति भी है, और हम आशा करते हैं कि इस पाठ में हम अपने शिष्यों के मन में इस विषय को स्पष्ट रीति से ला सकेंगे।

"विचार की शक्ति", "पराचित्त ज्ञान" और "मानसिक बल" आदि प्रयोगों में देखा जाता है कि एक मन का प्रभाव दूसरे मनों पर भी पड़ता है, और बहुत से लेखकों ने पाश्चिमी संसार के अवधान को इन बातों की ओर आकर्षित किया है। पिछले वर्षों में इस ओर पाश्चिमी संसार में बड़ी जागृति हुई है, और इस विषय पर अनेक अद्भुत अद्भुत युक्तियाँ प्रचारित की गई हैं पर इन युक्तियों में परस्पर विरोध भी रहने पर, मूल बातों में सहमति पाई जाती है। सब युक्तियाँ सहमत हैं कि अपने और अन्यों पर प्रभाव डालने के लिये मानसिक शक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है। बहुतों ने इसीके अनुसार अपने नीच स्वार्थ के लिये इनका प्रयोग किया भी, उनका विश्वास था कि ऐसा करने का उनको अधिकार था, परन्तु वे इस बात को नहीं जानते थे कि ऐसा करने में वे मानसिक कार्य कारण का ऐसा चक्र संचालित कर रहे थे जो उन्हींके सिर घहरायेगा।

अब आरम्भ ही में हम अपने शिष्यों के मन पर खचित किये देते हैं कि यद्यपि यह बात सत्य है कि जो मनुष्य अपने भीतर शक्तियों के उद्गम स्थान से अनभिज्ञ है वह दूसरों के

विचारों से अभिभूत हो सकता है, तौभी यह बात भी सत्य है कि जो मनुष्य अपने भीतर "अहम्" का अनुभव करता है वह किसी प्रकार दूसरों के विचारप्रयोग से अभिभूत नहीं हो सकता। क्योंकि "अहम्" ही उसका वास्तविक भाग है और वह शक्ति का अभेद्य दुर्ग है जिस पर दूसरों के आक्रमण कुछ भी नहीं कर सकते। जो पुरुष या स्त्री अपने भीतर के "अहम्" को अनुभव करता है, वह आकांक्षा की तनिक सी प्रेरणा से अपने को मानसिक ओजस (कवच) से आच्छादित कर सकता है। जो दूसरों के मन से आई हुई विचार की लहरों को तुरत वापस लौटा सकता है। इतना ही नहीं "अहम्" के सच्चे अनुभव और नित्य के ध्यान से आप से आप ओजस का ऐसा कवच बन जायगा और यह कवच ऐसे जीवट से पूर्ण हो जायगा जो विपरीत विचारों को ऐसा धक्का देगा कि वे वहीं लौट जायँगे जहां से आये थे और उस मूर्ख प्रयोक्ता को भली भांति शिक्षा दे देंगे कि ऐसा प्रयोग हानिकारक अथच त्याज्य है।

यह "अहम्" का अनुभव आत्मरक्षा के लिये सर्वोत्तम रीति है। इसको आप सरलता से तब समझेंगे जब आप इस बात का स्मरण करेंगे कि मानसिक प्रभाव का सारा दृश्य जीवन का माया अंग है—निषेधात्मक अंग है—और सच्चा और विध्यात्मक "अहम्" अंग निस्सन्देह उससे प्रबल होगा। आपके भीतर जो असली है उस पर कोई भी चीज असर नहीं डाल सकती, और आप जितना ही अधिक अनुभव और समझ द्वारा उस असल के निकट पहुँचेंगे उतना ही

आप शक्तिमान और बलवत्तर होते जावेंगे। यही सारा रहस्य है। इस पर बार बार विचार कीजिये।

परन्तु बहुत ही कम मनुष्य हैं जो सर्वदा दृढ़ता के साहित "अहम्" चेतना में रहते हों। दूसरे जो उन्नति कर रहे हैं, उन्हें सहायता की आवश्यकता है। उन लोगों से हम यही कहेंगे कि "अहम्" के अनुभव के उतना निकट चले जावो जितना तुमारे लिये साध्य हो और अपने आध्यात्मिक चरण को वास्तविक आपे की चट्टान पर स्थापित करो। यदि तुम्हें जान पड़े कि कोई मनुष्य, या मनुष्यदल, या अवस्था या वस्तुएं तुम पर अनुचित प्रभाव डाल रही हैं तो वीरता से खड़े हो जाओ और उस प्रभाव को अस्वीकार कर दो। कुछ कुछ ऐसा मंत्र जपो कि "मैं उन मनुष्यों, अवस्थाओं और वस्तुओं की शक्ति और प्रभाव को अस्वीकार करता हूँ। मैं अपनी सची सत्ता, शक्ति और उन विपरीत वस्तुओं पर अपनी प्रभुता का प्रतिपादन करता हूँ।" ये शब्द बहुत ही साधारण प्रतीत होंगे, परन्तु उनके भीतर जो सत्य बात भरी है उसकी चेतना के साहित जब ये उच्चारण किये जावेंगे, तब वे प्रबल शक्ति हो उठेंगे। आप जानते ही होंगे कि केवल शब्दों ही में शक्ति या जादू नहीं रहता—शक्ति उस भावना में रहती है जिसके द्योतक ये शब्द हैं। आपके ऊपर यदि कोई उदासीनता का या अन्य अनिष्ट प्रभाव पड़ रहा हो तब आप ऐसे शब्दों का प्रयोग कर के इनकी महिमा को देख लीजिये। यदि आप—जो इन शब्दों को इस समय पढ़ रहे हैं, किसी विपरीत या उच्चाटनकारी प्रभाव का अनुभव करें तो खड़े हो जावें, कन्धों को पीछे

खींच लें, अपना सिर ऊपर उठा लें और वीरता और निर्भयता से सम्मुख ताक कर इन शब्दों को जपें, पर श्रद्धा और विश्वास के साथ तब आपको विपरीत प्रभाव अन्तर्धान होते जान पड़ेगा। आप प्रायः देखेंगे कि आपसे वह बादल पीछे हट रहा है। आगे पढ़ने के पहले इसकी जांच कर लीजिये तब आप नये बल और शक्ति से अभिज्ञ हो जायँगे।

ऐसे विपरीत प्रभावों को अस्वीकार करने में आप न्याय पथ पर हैं, आपका पूरा अधिकार है कि आप धमकानेवाले या उच्चाटन करनेवाले विचार बादलों को हटा दें। आपका पूरा अधिकार है कि सत्य की शिला पर—अपने असली आपे पर—अटल डट जायँ और अपनी स्वतंत्रता चाहें। संसार की साधारण रीति से और कुछ मनुष्यों की विशेष रीति से ये निषेधात्मक विचार जीवन के अंधकारमय अंग हैं, और आपका स्वत्व है कि आप उनसे स्वतंत्रता और छुटकारा चाहें। आप भी उसी अंधकारमय अंगवाले तो हैं नहीं, इसलिये यह आपका अधिकार है, नहीं कर्तव्य है कि आप उन्हें अपने मण्डल से दूर हटा दें। आप ज्योति की सन्तान हैं इसलिये आपका धर्म और कर्तव्य है कि अन्धकार की वस्तुओं से छुटकारा चाहें। जब आप अपनी प्रभुता इन अन्धकार की वस्तुओं पर चला रहे हैं तब आप सत्य का प्रतिपादन कर रहे हैं। आपके अनुभव और श्रद्धा विश्वास मनुष्य से देवता बना देते हैं। यदि हम पूरा पूरा अनुभव कर पाते कि हम क्या हैं तो हम इस सारे निषेधात्मक विचार के संसार के लोक से पार हो जाते। परन्तु हम मनुष्य जाति के निर्बलतामय और

भीतिमय विचारों से इतने अन्धे और मूढ़ हो गये हैं, और निर्बलता की सूचना से ऐसा मायामुग्ध हो गये हैं कि हम लोगों में के बड़े बड़े भी कभी निराशा और पस्तहिम्मती के गर्त में गिरने से रुकने में कठिनता पाते हैं।' परन्तु भाइयो और बहनो, स्मरण रक्खो कि ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ेंगे त्यों त्यों ये पीछे फिसलने के अवसर कम कम और अल्पस्थायी होते जावेंगे। शनैः शनैः हम इनके जाल से पूरा बाहर निकल जावेंगे।

कुछ लोग कहेंगे कि हम इस प्रश्न के निषेधात्मक अंग पर अत्यन्त अधिक जोर दे रहे हैं, परन्तु हम समझते हैं कि हमारा कथन समयोचित है और हमारे पाठकों में से बहुतों के लिये बड़ा आवश्यक है। इस विपरीत और निषेधात्मक विचार के सम्बन्ध में इतना कहा गया है कि सबको समझ जाना चाहिये कि हम में इतनी शक्ति है कि हम इन बातों के परे हो जायँ और हमारे पास ऐसा शस्त्र है कि हम इन्हें हरा दें।

बड़े बड़े ऊपर श्रेणी के शिष्य भी कभी कभी भूल जाते हैं कि हम मनुष्य जाति के विचार के विपरीत प्रभावों के और अड़ोस पड़ोस के अन्य विचारों के प्रभावों के बादलों से परे हैं। जब हम सोचते हैं कि हम मनुष्यों में विध्यात्मक आशाजनक विचारों की लहरों के संचालित करनेवाले तो बहुत ही कम हैं और पस्तहिम्मती, भय, निराशा आदि की विचार लहरों को लगातार संचालित करनेवाले मनुष्यों की संख्या अत्यन्त अधिक है, तब इस बात में कौन सा आश्चर्य है कि

जो हमारे सम्मुख पस्तहिम्मती, बेकसी और लाचारी की भावनाएं आ जाती हैं। पर हमें चौकन्ना रहना चाहिये कि जहाँ तक अपना सम्बन्ध है इनको अस्वीकार और असत्य कर देने में सावधान रहें। इस अन्तिम बात में अद्भुत गूढ़ यथार्थता है। अपने विचार-संसार के रचयिता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हम ही हैं। जिसको हम प्रगट करने की कामना करें उसे प्रगट कर सकते हैं, हम जिस विचाररूप को चाहें उसे जगा, बढ़ा और विकसा कर पालन कर सकते हैं, जिस विचार को हटाना चाहें उसका हम नाश कर सकते हैं। अपने विचार-संसार का स्वामी "अहम्" है। हे शिष्य, इस महत् सत्य पर बार बार विचार करो। कामना द्वारा हम उत्पादन करते हैं, प्रतिपादन द्वारा पालन करते हैं, और अस्वीकार द्वारा हम नाश करते हैं।

हिन्दू लोग अपने साधारण मज़हबी विभावना में एक ही ईश्वरी सत्ता को त्रिमूर्त्यात्मक ख्याल करते हैं जो ब्रह्मा अर्थात् रचयिता, विष्णु अर्थात् पालनकर्ता और शिव अर्थात् संहारकर्ता से बनी है। ये तीन पृथक् ३ देव नहीं हैं किन्तु एक ही ईश्वर के पृथक् २ अंग हैं। यह त्रिमूर्त्यात्मक सत्ता की भावना मनुष्य की व्यष्टि में भी संघटित होती है। जैसा ऊपर वैसा नीचे। व्यष्टि की सत्ता तो "अहम्" है और विचार-संसार उसका आविर्भाव है। वह अपनी आकांक्षा के अनुसार सृजन, पालन और संहरण करता है। इस बात को सर्वदा अपने ध्यान में रखिये कि आपका व्यष्टिविचार-संसार आप ही का आविर्भाव क्षेत्र है। उसमें आप सर्वदा सृजन, पालन और

संहरण कर रहे हैं। और यदि आप अपने विचार संसार में किसी वस्तु को नाश कर दें तो अपने सम्बन्ध में आप उस वस्तु को मृत ही और निष्क्रिय ही समझिये। और यदि अपने विचार-संसार में आप किसी वस्तु को उत्पन्न करते हैं तो आप अपने सम्बन्ध में एक कर्मशील वस्तु भली या बुरी ला रहे हैं। आप अपने विचार-संसार में जिस वस्तु को पालन कर रहे हैं उसके भले और बुरे कर्मों का आप ही पर प्रभाव पड़ेगा। इसकी यथार्थता इस विषय की ऊंची भावनाओं से सम्बन्ध रखती है क्योंकि इसका विवरण वस्तुसत्ता के विवरण, परमपुरुष और उसके आविर्भाव के विवरण से घना सम्बन्ध रखता है। परन्तु जितना हम ऊपर कह आये हैं उतने से भी शिष्य को पूरी सूचना मिल जानी चाहिये कि जिससे वह इन बातों का अभिज्ञ हो जाय और इनके मूल तत्वों का व्यवहार अपने जीवन में करे।

यदि कोई मनुष्य मनुष्यजाति के साधारण विचारों के लोक में जीवन व्यतीत करे तो वह उसी लोक के नियमों के अधीन है, क्योंकि कारण कार्य का नियम जीवन के प्रत्येक लोक में है, परन्तु जब कोई मनुष्य अपने को जाति के विचारों के ऊपर चढ़ा ले जाता है और असली आपे के अनुभव तक पहुँचा देता है, अर्थात् "अहम्" की चेतना तक पहुँच जाता है, तब वह अपने को नीचे के कार्यकारण के नियमों से पृथक् खींच लेता है, और अपने को कारण के ऊंचे लोक में स्थापित करता है जिसमें वह उच्च क्रिया करता है। इसी लिये हम बार बार आपको स्मरण दिलाते हैं कि आपकी

शक्ति का दुर्ग उच्च लोक में है। पर तौ भी हमें नीचे के लोकों की वस्तुओं और उनके नियमों को वर्तना पड़ेगा क्योंकि इन पाठों के पढ़नेवालों में से बहुत ही कम ऐसे होंगे जो नितान्त ऊंचे ही के लोक में रहते हों। इनमें से अधिकांश अपने को ऊंचे के लोक में थोड़ा ही थोड़ा उठा सके हैं, इसलिये ये दोनों लोकों में जा रहे हैं, थोड़ा थोड़ा दोनों में, जिसका परिणाम यह है कि दोनों लोकों के नियमों में विरोध उत्पन्न हो गया है। सिद्धि के पथ पर की वर्तमान दशा सब से कठिन है और इसकी उपमा भौतिक शरीर के जन्म से दी जा सकती है। आप ऊंचे लोक में जन्म ले रहे हैं और पीड़ा जब अत्यन्त प्रबल हो जावेगी तब घटने लगेगी और अन्त में जाती रहेगी और तब शान्ति आवेगी। जब पीड़ा अत्यन्त तीव्र हो तब तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये कि अब हमारा आध्यात्मिक जन्म होगा और अब हमें शान्ति प्राप्त होगी, तब आपके देखने में आवेगा कि इस थोड़ी सी पीड़ा से कैसी शान्ति और आनन्द मिल गया। हे पथ के यात्रियो, धैर्य धारण किये रहो, छुटकारा निकट है। तूफान के बाद जो शान्ति आती है वह शीघ्र ही आवेगी। जिस पीड़ा को आप भोग रहे हैं—हां, हम अच्छी तरह जानते हैं कि आप पीड़ा भोग रहे हैं, वह दण्ड नहीं है, परन्तु आप की वृद्धि का आवश्यक अंग है। सब जीवन इसी पद्धति के अनुसार होता है। छुटकारे के पहले जन्म की वेदना और पीड़ा भोगनी ही पड़ती है। जीवन ऐसा ही है, जीवन का आधार सत्य है, और संसार का सब मंगल ही मंगल है। हम इस पाठ में इन

बातों का वर्णन नहीं किया चाहते थे परन्तु जब हम लिखते हैं तो सहायता के लिये पुकार हम तक पहुंचती है और हमारे शिष्य हमसे आशा और साहस के शब्द मांगते हैं और हमारा कर्तव्य है कि उस पुकार को सुनें और उन्हें आशा और साहस के वचन दें। आप सब के साथ शान्ति विराजे।

अब हम उन नियमों का विचार आरम्भ करेंगे जो अचेतन प्रभाव पर लगते हैं।

रहस्य-विद्या के सब शिष्य जानते हैं कि मनुष्य पर दूसरों के विचारों का बड़ा असर पड़ सकता है और पड़ता है। यह बात केवल उसी दशा में नहीं होती जब एक मनुष्य के मन से दूसरे मनुष्य के मन को विचार संचालित होते हैं, किन्तु, उस दशा में भी जबकि प्रेरित किये हुए विचारों के लिये कोई स्थान या दिशा निर्दिष्ट नहीं रहती। विचारों के संचालक प्रयत्न के समाप्त भी हो जाने पर विचारों की लहरें बहुत काल तक भुवर्लोक में झलमलाती रहती हैं। बहुत वर्ष पहले के विचार करनेवालों के विचारों की लहरों से भुवर्लोक का मंडल भर रहा है, और अब भी उसमें इतना जीवट वर्तमान है कि जिन मनुष्यों का मन उन विचारों के ग्रहण करने के लिये अब भी प्रस्तुत हो उन पर वह प्रभाव डाल सकता है। हम सब लोग अपने विचारों के अनुकूल विचारों की लहरों को आकर्षित किया करते हैं। आकर्षण का नियम पूरा काम कर रहा है। जो मनुष्य इस विषय का पूरा अध्ययन करना चाहे उसको चारो ओर इस बात के प्रमाण मिलेंगे।

हम किसी एक पथ पर विचारों को स्थापित और निमंत्रित करके विचारों का आवाहन करते हैं। जब हम प्रसन्नता, उजियाला और सुखदार्शिता की ओर विचार करेंगे तब हम दूसरों के भी वैसे ही बिचारों की लहरों को आकर्षित करेंगे और थोड़े ही काल में मालूम होगा कि चारों ओर से अनेक प्रकार के प्रसन्न विचार हमारे मन में आ रहे हैं। और इसी प्रकार यदि हम उदासी, निराशा और दुःखदार्शिता के विचारों को अपने मन में टिकावेंगे तो हम अपने मन को अन्य मनुष्यों से उठे हुए ऐसे ही विचारों के लिये खोल देंगे। क्रोध, इर्षा और द्वेष के विचार अपने ही समान विचारों को आकर्षित करते हैं जो आकर जलती अग्नि में इंन्धन डाला करते हैं और इन नीच वृत्तियों की अग्नि को प्रज्वालित रखते हैं। प्रेम के विचार दूसरों के वैसे ही प्रेम के विचारों को आकर्षित करते हैं जिससे प्रेम भावना का उज्वल भंडार भरा रहता है।

दूसरों के विचार केवल इसी प्रकार हम पर असर नहीं पहुँचाते, परन्तु, जिसे सूचना कहते हैं वह भी इस अचेतन प्रभाव के मामले में बड़ा काम करती है। दूसरे मनुष्यों के इंगित, आकार, रहन, मुखचेष्टा और शब्दों से जो भावना, विभावना, वृत्ति, विचारण इंत्यादि प्रगट होते हैं, उनके अनुकरण करने की प्रवृति मन को होती है। यदि हम उदासीन स्वभाव के मनुष्य का सहवास करेंगे तो सूचना के नियम के अनुसार हमें भी उसके मानसिक दोष के ग्रहण कर लेने के पेच में पड़ जाने की आशंका है। इससे निवृत्ति तभी होगी जब हम इस नियम को समझे रहें और उसकी प्रतिक्रिया

कर डालें । इसी प्रकार हम प्रसन्नता को भी सम्पर्कजन्य पाते हैं, और यदि हम प्रसन्न चित्त मनुष्य की संगति करें तो हम उसके मानसिक गुण को धारण कर सकते हैं । यही नियमसिद्ध कार्य और असिद्ध कार्य मनुष्य की संगति में भी लगता है । यदि हम ऐसे मनुष्यों में से लगातार निलकती हुई सूचना को धारण कर लें तो हम अपने मन को उसी मनुष्य की चाल, रहन, विशेषताएँ, स्वभाव, अनुभाव ग्रहण करने पावेंगे, और थोड़े ही काल में हम उसी के मानसलोक में रहने लगेंगे । जैसा कि हम बार बार कह चुके हैं, ये बातें तभी होंगी जब हम अपने मन को उन अंकनों को धारण करने देंगे, परन्तु यदि मनुष्य सूचना के नियमों पर प्रभुता रखता होगा और उनके तत्वों और क्रियाओं को समझता होगा तो वह प्रतिक्रिया द्वारा उनके प्रभाव से बच सकता है । आप सब लोग संगति के गुण दोषों को जानते हैं । जिसकी संगति में मनुष्य रहता है उसके प्रभाव को आप ग्रहण करता है और अपने प्रभाव को उस पर डालता है । किसी मनुष्य के प्रभाव से मन संकुचित होता है और नीचता को प्राप्त होता है, किसी के प्रभाव से बेचैनी उत्पन्न होती है, क्योंकि उसके मन में अश्रद्धा, अविश्वास, शंका और नीच चालबाजी भरी है । किसी के शरीर से स्वास्थ्य का ओजस निकला करता है, किसी के शरीर से रोग का खिन्न ओजस निःसरण करता रहता है, यद्यपि प्रगट उनकी शारीरिक दशा रोग से मुक्त दिखाई देती है । मानसिक दशाएँ सूक्ष्म रीति से आकर हम पर अंकित हो जाती हैं । जो शिष्य भिन्न मनुष्यों की संगति में

जा कर इस विषय की परीक्षा करेगा उसको इस विषय की अच्छी शिक्षा मिल जावेगी।

भिन्न भिन्न मनुष्यों में इन सूचनाओं या अंकनों के ग्रहण करने की भिन्न भिन्न योग्यता होती है। ऐसे भी मनुष्य हैं जो इन बातों से बिलकुल अवेध्य हैं, और दूसरी ओर ऐसे मनुष्य हैं जो दूसरों की सूचनाओं और अंकनो से चेतनता और अचेतनता में इतने अभिभूत हो जाते हैं कि कहा जा सकता है कि उनके पास स्वतंत्र विचार या आकांक्षा कुछ भी नहीं है। परन्तु थोड़ा बहुत तो सभी इस नियम के अन्तर्गत आ जाते हैं।

हमारे कथन से यह न समझ लेना चाहिये कि सभी सूचनाएँ बुरी, हानिकर और अनिष्ट हुआ करती हैं। बहुत सी सूचनाएँ हमारे लिये बहुत ही अच्छी होती हैं और सुअवसर में आकर हमें बड़ी सहायता पहुँचाती हैं। परन्तु यह अच्छी बात होगी कि स्वयम आपका मन इन सूचनाओं की जांच करले और तब अपने अचेतन मन में इन्हें आने दे या न आने दे। अन्तिम फ़ैसला आप का होना चाहिये दूसरों की आकांक्षा का कदापि नहीं।

सर्वदा स्मरण राखिये कि आप एक व्यक्ति अपने मन और अपनी आकांक्षा को लिये हुए हैं। आप अपनी "अहम्-चेतना" के आधार पर दृढ़ स्थित रहिये तब आप दूसरों की विपरीत सूचनाओं के लिये अपने को अद्भुत शक्ति प्रगट करने के योग्य पावेंगे। अपने सूचनादाता आप हो जाइये, अपने मन पर आप शिक्षा और प्रभाव दीजिये, और इसे

दूसरों के प्रभाव में मत जाने दीजिये। अपनी व्यष्टि के भाव को संवर्द्धित कीजिये।

भौतिक लोक में सिद्धि और सफलता प्राप्त करने की ओर मानसिक रहन के प्रभाव के विषय में इन पिछले वर्षों में पश्चिमी संसार में बहुत कुछ लिखा गया है। इसमें से अधिकांश तो कल्पनाबाहुल्य है, पर तौभी इस सब के भीतर सत्य का दृढ़ और प्रबल अधस्तल है।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य की प्रबल मानसिक रहन उसके जीवन में सर्वदा आविर्भूत और विषयीभूत हुआ करती है। मनुष्य की प्रबल मानसिक स्थिति के साधारण आदर्श के अनुरूप वस्तुएं, अवस्थाएं, मनुष्य, उद्देश इत्यादि सब हो जाया करते हैं। और यह सब कर्म के पथों के अनुसार मानसिक नियम की क्रिया से हुआ करता है।

पहले तो जब मन विषयों या वस्तुओं के किसी श्रेणी की ओर लगता है तो उन वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में खूब चौकन्ना हो जाता है, जिस वस्तु पर जी लगा रहता है उसकी प्राप्ति के सहायक अवसरों, बातों, मनुष्यों, भावनाओं और घटनाओं को अच्छी तरह से ग्रहण करता है। जो मनुष्य किसी युक्तियों को प्रमाणित किया चाहता है वह प्रायः ऐसी बातों को पाया करता है जो प्रमाण का काम दें और उन बातों पर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती जो उस युक्ति को अप्रमाणित करें। शुभदर्शी और अशुभदर्शी दोनों एक ही मार्ग से चलते हों तो दोनों में से प्रत्येक अपनी ही भावना के अनुकूल सैकड़ों बातें देखेगा। जैसा कि के साहब कहते हैं कि "जब

मनुष्य किसी वस्तु की खोज में लगा हो और यदि वह उस वस्तु की मूर्ति स्पष्ट अपने मन में रक्खेगा तो बहुत संभव है कि वह उस वस्तु को पाजाय और उस स्थान पर पहुँच जाय जहाँ वह वस्तु उसकी दृष्टि से बच जाती। वैसे ही जब कोई मनुष्य किसी विषय के विचार में लगा हो तो उस वस्तु के सदृश या उससे सम्बन्ध रखनेवाले विचार और उसके उदाहरण चारों ओर से उसके पास आवेंगे। हम लोग मन के विषय में सच सच कह सकते हैं जैसा कि आखों के विषय में कहा गया है कि वह उसी वस्तु को देखती है जिसे देखने की शक्ति के भीतर ले आती है।"

जब मन किसी आदर्श या उद्देश में लगा रहता है तो उसकी सारी और प्रत्येक शक्ति उसी उद्देश की चरितार्थता और पूर्ति में लगी रहती है। मन सहस्रों रीतियों से उस मानसिक भावना को वस्तु रूप में चरितार्थ करने की क्रिया करेगा, मानसिक कार्य का अधिकांश भाग अचेतन मन द्वारा होता रहेगा। यह बात उस मनुष्य के लिये बहुत ही आवश्यक है जो किसी बड़े काम में लगा हो कि अभीष्ट बात की मूर्ति को सर्वदा अपने मन के सम्मुख उपस्थित रक्खे। वह अभीष्ट वस्तु की मूर्ति को मन में स्थापित करे और अपने को उसे प्राप्त करते हुए कल्पना करे जब तक कि वह बात प्राप्त न हो जाय। इस प्रकार वह सारे मानसिक बल को अपनी सहायता में एकत्र कर लेता है और सो भी अचेतन मन पर जिस से उसकी प्राप्ति के लिये उद्योग करने का मार्ग उसके लिये साफ़ हो जाता है। मूलर साहब कहते हैं कि अपनी शक्ति की भावना अपनी

गति में बल पहुँचाती है।" जो मनुष्य अपने भुजबल से किसी कार्य को सम्पादित करने के लिये पूर्ण विश्वास रखता है वह उस मनुष्य की अपेक्षा अधिक सरलता से उस कार्य को सम्पादित कर डालेगा जिस में अपने बल पर वैसा विश्वास नहीं है।" टैनर साहब कहते हैं कि "पूर्ण विश्वास करना करीब २ कार्य के सिद्ध कर लेने के बराबर है। इच्छावाहिर्गत मांस पेशियों पर भी आकांक्षा के प्रभाव के बड़े २ उदाहरण देखे गये हैं।"

इसी प्रकार पश्चिमी लेखकों ने योगियों की उस युक्ति का समर्थन किया है कि विचार कार्य में परिणत हो जाया करते हैं। सिम्पसन साहब कहते हैं कि "प्रबल कामना और अथक आकांक्षा असम्भव को भी सम्भव कर डालती है अर्थात् उस बात का भी जो निर्बल और उदासीन मनुष्य को असम्भव प्रतीत होती थी।" माडसली साहब उत्साही नवयुवकों को महत् सत्य देते हैं जब वे कहते हैं कि "उत्साह और हौसला इस बात की भविष्यद्वाणी है कि मनुष्य कहाँ तक कार्य कर सकता है" और हम लिटन साहब के कथन को उद्धृत करके इस बात को समाप्त कर सकते हैं कि "हे नवयुवक, वीरता और सज्जनता से सुखस्वप्न देखो, और तुम्हारा सुखस्वप्न तुम्हारे लिये भविष्यद्वक्ता होगा।"

योगी गुरु लोग अपने चेला के मन पर इस मानसिक मूर्ति की शक्ति को दृढ़ता से अंकित कर देते हैं। चेला को यह सिखाया जाता है कि जैसे मानचित्र के अनुसार गृह निर्माण होता है वैसे ही प्रबल मानसिक मूर्ति के अनुसार मनुष्य का

जीवन बनता है। मानसिक मूर्ति के चारों ओर मन अचेतन रूप से अपने को ढालता है और तब बाह्य जगत से सामग्री लेकर संकल्प के अनुसार रचना करता है। इस रीति से केवल मनुष्य का चरित्र ही नहीं बनता परन्तु उसके जीवन की अवस्थाएं और घटनाएं भी इसी नियम का अनुवर्तन करती हैं। योगी शिष्य मन की ऐसी शक्तियों के विषय में सिखाया जाता है, इस लिये नहीं कि वह इस रीति से भौतिक सफलता की रचना में इनका प्रयोग करे, या अपनी व्यक्तिगत कामनाओं की पूर्ति करे—क्योंकि इन बातों के त्यागने की शिक्षा उसे दी जाती है-परन्तु तौभी उसे इन बातों की पूरी शिक्षा दी जाती है कि वह अपने चारों ओर नियम की क्रियाओं को समझता रहे। योग के उच्च शिष्यों को यह बात भली भांति विदित है कि वे थोड़े मनुष्य जिन्होंने विकास की असाधारण श्रेणी की सिद्धि को प्राप्त कर लिया है, वे इस शक्ति को जाति की उन्नति में व्यवहार करते हैं। मन ने बहुत सी संसारव्यापी गतियों को संचालित कर दिया है, यह मन उन्हीं उच्च जीव या जीवों का था जिन्होंने विकास के आदर्श को सब से पहले ही देख लिया था, उसीको दृष्टि में रख कर और उसी पर ध्यान लगा कर उन्होंने विकास की लहरों में शीघ्रता भर दी और जिस बात को वे अपने ध्यान में देखते थे और जिस पर ध्यान लगाते थे उसी बात को उन्होंने संसार में कार्य रूप से प्रगट कर दिया।

यह बात सच है कि कुछ रहस्यवेत्ताओं ने ऐसी ही रीतियों का व्यवहार अपने निज के स्वार्थ साधन में किया है।

इस बात का उन्होंने विचार न किया कि हम किस शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं—पर ये बातें उसी बात के उदाहरण हैं कि इन बलों को हम भली और बुरी दोनों तरहों से वर्त सकते हैं। यही कारण है कि उच्च योगी लोग जाति के उद्धार के अभिप्राय से प्रबल यत्न में लगे हुए हैं। सफलता या सिद्धि दूषित नहीं है, यद्यपि बहुतों ने इस शब्द का अर्थ और व्यवहार इस रीति से किया है कि मानो स्वार्थसाधन छोड़ कर और कोई उद्देश ही सिद्धि का नहीं हो सकता। पश्चिमी संसार मानव जाति के विकाश में अपना कार्य कर रहा है और उसका मूल मंत्र "कर्म" है। जो लोग इतना ऊँचे चढ़ गये हैं कि मानव समाज को इस प्रकार देख रहे हैं जैसे पर्वत शिखर पर का मनुष्य नीचे की वस्तुओं को देखता है, वे समझते हैं कि पश्चिमी उद्योगशील जीवन का क्या अर्थ है। वे बड़े बड़े बलों को कार्य में लगे देखते हैं, बड़े बड़े मूल मंत्र चरितार्थ हो रहे हैं जिनको वे मनुष्य नहीं समझ पाते जो इस कार्य में लगे हुए हैं। पश्चिमी संसार के सम्मुख आज बड़ी बातें हैं—आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहा है—काल के गर्भ में बड़ी बड़ी बातें हैं और उनके जन्म का समय निकट पहुँच रहा है। पश्चिमी संसार के पुरुषों और स्त्रियों के भीतर प्रेरणा होती है कि कोई काम कर डालो—जीवन के महत् नाटक में सक्रिय भाग लो। इस प्रेरणा का जो वे पूरा अनुसरण कर रहे हैं वह उचित ही है और मानसिक रहन या मानसिक मूर्ति की यह भावना सफलता के प्रयत्न में सब से बड़ा कारण है।

इस पाठ में हम अपने शिष्यों को "सफलता विषयक वार्ता" नहीं सुनाना चाहते। इन पाठों का उद्देश्य अन्य ही क्षेत्र है। हम अपने शिष्यों को यही बतलाना चाहते हैं कि पश्चिमी संसार के इस विकट उद्योग का क्या अर्थ है और इसमें कौन तत्व कार्य कर रहा है। भौतिक संसार के बड़े बड़े कार्य मन ही की शक्ति द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। मनुष्य इस बात को समझ रहे हैं कि "विचार ही कार्य में परिणत होते हैं और विचार अपनी ओर वस्तुओं, मनुष्यों और अवस्थाओं को अपने मेल में आकर्षित करते हैं। मन की शक्ति सैकड़ों मार्गों से प्रगट हो रही है। कामना की शक्ति, आकांक्षा और श्रद्धा की सहायता से बहुत बड़े बड़े कार्यों के करने में समर्थ पाई जा रही है। जाति का जीवन विकास की नयी और अद्भुत श्रेणी में प्रवेश कर रहा है और भविष्यत में मन और भी अधिक स्पष्ट दीख पड़ेगा कि भौतिक बातों और घटनाओं में भी जगद्व्यापी महत्तत्व हो कर कार्य कर रहा है। दुनिया के नेताओं के विचार में मन अब सपना ही देखनेवाला जन न रह जायगा किन्तु मन ही "यत्सर्वस्व" हो जायगा।

जैसा कि हम कह आये हैं संसार और मानव जाति के सम्मुख बड़े २ परिवर्तन उपस्थित हैं और प्रत्येक वर्ष हमें उस परिवर्तन के आरम्भ के निकट लिये जाता है। सच तो यह है कि उसका प्रारम्भ पहले ही से हमारे ऊपर आ गया है। कोई विचारवान पुरुष यदि वर्तमान दशाओं पर दृष्टि डालेगा तो यदि उसकी दृष्टि में दुनिया की बातों का झुकाव नहीं आता तो वह बड़ा ही कुन्दजिहन मनुष्य होगा। हम मानव

जाति के एक नये बड़े युग में प्रवेश कर रहे हैं; और पुरानी बातें भूसी की भांति छूट कर दूर हो जाने की तैयारी कर रही हैं। पुरानी मर्यादा, पुराने आदर्श, रिवाज, कानून, नैतिक आचार, सामाजिक संगठन, आर्थिक संगठन, दैवी विचार, दार्शनिक विचार और आध्यात्मिक विचार सब पुराने होकर अब अनुकूल न रहे, मानव जाति आगे बढ़ गयी, ये पुरानी बातें छोटी पड़ गई, इस लिये सब बातें त्याग दी जायँगी। मानव विचार का महत् कड़ाह भयंकर रूप से खौल रहा है और बहुत बातें उसके नीचे से निकल कर ऊपर तैर रही हैं। सब परिवर्तनों के अनुसार बड़े कष्टों के पश्चात् भलाई आवेगी, नये जन्म के साथ पीड़ा रहती ही है। मानव जाति अभी से पीड़ा और बेचैनी का अनुभव कर रही है, परन्तु यह नहीं जानती कि यह कौन सा रोग है और इसकी औषधि क्या है। झूठे २ निदान और झूठी २ औषधियों के अनेक प्रयोग देखने में आते हैं और आगे चल कर और भी देखने में आवेंगे। बहुत से जाति के उद्धारक और निवारक उठें और गिरेंगे। परन्तु इन्हीं सब बातों से उसकी उत्पत्ति होगी जिसकी प्रतीक्षा मानव जाति कर रही है।

नेता और उद्धारक की पुकार करते हुए मनुष्य इधर उधर दौड़ रहे हैं। वे कभी इस बात की परीक्षा करते हैं कभी उस बात की, परन्तु वे जिस वस्तु की खोज में हैं उसे नहीं पाते। वे तोष के लिये पुकार मचा रहे हैं पर तोष उन्हें मिलता नहीं। तथापि यह सब खोज और निराशा उस महत् परिवर्तन का अंग है। जाति को उस वस्तु के लिये

तैयार कर रहे हैं जो अवश्य आवेगा। परन्तु विश्राम किसी वस्तु या वस्तुओं से नहीं मिलेगा। वह भीतर से आवेगा। जब मनुष्यजाति का मन, उस नये विकास के द्वारा स्वच्छ हो जायगा जिसका आना प्रारम्भ हो गया है, तब वस्तुएँ अपनी नयी स्थिति पर आ जायँगी। मनुष्य अब एक दूसरे के कष्ट का अनुभव करने लगे हैं। अपनी २ चेतो, पराये की चिन्ता मत करो इस पुराने नियम से लोग अब असन्तुष्ट हो रहे हैं। पहले यह नियम सफलमनोरथ और ऊंचे लोगों को तोष देता था पर अब इससे उन्हें तोष नहीं मिलता। अब अपनी सफलता में भी भयंकर दोष दिखाई देते हैं। नीचे के मनुष्यों को अपने भीतर उभाड़ सा प्रतीत होता है और उनमें प्रबल कामना, उत्तेजना और असंतुष्टि दिखाई पड़ती हैं। नये २ विरोध उठ रहे हैं, नये नये रगड़े उत्पन्न हो रहे हैं। नयी और विचित्र भावनाएँ अकस्मात प्रचारित हो रही हैं और उनका समर्थन और विरोध भी हो रहा है।

मनुष्यों में परस्पर सम्बन्ध असन्तोषजनक हो रहा है। पुराने नियम और बन्धन दुःखदायी प्रतीत हो रहे हैं। मनुष्यों के मन में नये, अद्भुत और स्वच्छंद विचार उत्पन्न हो रहे हैं जिनको वे अपने मित्रों को जनाने का भी साहस नहीं कर सकते, और इन मित्रों के हृदय में भी ऐसी ही भावनाएँ उठती हैं। इन सब बातों की तह में एक प्रकार की ईमानदारी पाई जाती है—हाँ वहां ही है जहां विपत्ति प्रगट होती प्रतीत होती है। दुनिया अब कपट और बेईमानी से थक गई और अब पुकार रही है कि फिर ईमानदारी पर पीछे लौट चलें

परन्तु निकलने का कोई मार्ग नहीं दिखलाई देता । जब तक मनुष्य जाति के मन का और विकास न होगा तब तक यह मार्ग न मिलेगा । नये विकास की पीड़ा अधस्तल से उद्वेग उत्पन्न कर रही है । मनुष्य जाति के मन के भीतरी कोनों से पुराने आवेग ऊपर आ रहे हैं और मन की पुरानी सब भद्दी बातें जो अनेक जन्मों और पीढ़ियों से संचित थीं अब प्रगट हो रही हैं । ये तब तक ऊपर आती और प्रगट होती रहेंगी जब तक कड़ाह खौलता रहेगा । जब खौलना बन्द होगा तो नयी शान्ति आवेगी और सर्वोत्तम बातें ऊपर छा जायँगी; और तब मनुष्य जाति के पिछले अनुभवों का सार नवनीत ऊपर आकर छा जायगा ।

हम अपने शिष्यों से कहेंगे कि जो विपर्यय आनेवाला है उसमें अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करना, यथासाध्य उत्तम से उत्तम कार्य करना, प्रतिदिन का जीवन जीना, नित्य जो बात सम्मुख आवे उससे विश्वास और साहस के साथ जुटना । आभासों से भ्रम में मत पड़ना और न अजान पैग़म्बरों का अनुयायी बनना । विकासिनी प्रक्रियाओं का जारी रहने देना और उसकी लहरों में बिना कशमकश किये और बिना छटपटाये पड़ जाना । नियम अपने को अच्छी तरह चरितार्थ कर रहा है इस बात का निश्चय रखना । जिन लोगों ने सर्वव्यापी एक जीवन को थोड़ा भी समझ पाया है वे आनेवाले परिवर्तनों के काल में चुने हुए मनुष्य समझे जायँगे । उन लोगों ने उस बात को प्राप्त कर लिया है जिस की ओर मानव जाति पीड़ा और दुस्सह वेदना में पड़ कर

जा रही है। इस नियम का संचालक जो बल है वह उन चुने मनुष्यों को आगे निकाल ले जायगा क्योंकि ये ही लोग वह जामन बनेंगे जिससे सारी जाति जम कर शान्ति प्राप्त करेगी। ये लोग कर्मों और क्रियाओं द्वारा जाति को नहीं जमावेंगे, किन्तु विचार द्वारा। विचार अभी से कार्य कर रहा है, और जो लोग इस पाठ को पढ़ रहे हैं वे उस कार्य में भाग ले रहे हैं, यद्यपि वे इस बात को समझते नहीं हैं। यदि मानव जाति सर्वव्यापी एक जीवन को आज समझ जाती तो वह परिवर्तन क्षण भर में हो जाता, परन्तु वह ऐसे न आवेगा। जब यह समझ क्रमशः जाति पर उदय होगी-यह नई चेतना- तब वस्तुएँ अपने अपने ठिकाने से हो जावेंगी और तब सिंह और बकरी एकत्र होकर शान्ति में बिराजेंगे।

हमने इस ग्रन्थ के अन्तिम पाठ में इन बातों को कह देना उचित समझा है। ये आवश्यक शब्द हैं। इनसे उन लोगों को पथ मिल जायगा जो समझने में समर्थ हैं। "उस खामोशी का इन्तजार करो जो तूफान के बाद आवेगी"।

इस ग्रन्थ में हमने राजयोग के प्रधान २ अंगों का सीधा सादा और क्रियात्मक उपदेश दिया है। यद्यपि इस विषय का यह पटल बहुत ही मुख्य और रोचक है, तथापि योग शिक्षा का यह उच्चतम पटल नहीं है। यह केवल मन रूपी भूमि को उस बीज के लिये तैयार करना है, जो आगे आने वाला है। योग के सब पटलों में ज्ञानयोग सर्वोच्च है, यद्यपि नीचे की सब सीढ़ियां अपने अपने स्थान पर आवश्यक हैं।

हम अपने कार्य के उस पटल के समीप पहुंच रहे हैं जिसकी हमें बहुत दिनों से इच्छा थी । जिन लोगों की प्रेरणा और परामर्श से हमने इस कार्य को किया है उन लोगों की यह सलाह है कि पहले सीधी २ बातों का उपदेश किया जाय कि जिससे इस ओर मन लगानेवालों का मानसक्षेत्र तैयार हो कि उच्च शिक्षा उसमें ठहर सके, बीज उग सके । कभी २ हमारी प्रबल कामना हुई है कि कब वह दिन आवे कि हम उस बात की शिक्षा दें जो हमें उत्तम से उत्तम प्रतीत हुई है, अब समय आया जान पड़ता है । इस पुस्तक के पश्चात हम ज्ञानयोग देंगे जिसमें सत्त्य पुरुष और उसके आविर्भावों के विषय में उच्चतम शिक्षा होगी । एक और अनेक । सब कुछ मन ही है इस बात का उपदेश इस प्रकार किया जायगा कि वे सब लोग समझ जायँगे जो अब तक हमारे ग्रन्थों का अनुशीलन करते आये हैं । हम आध्यात्मिक विकास अर्थात पुनर्जन्म और आध्यात्मिक कारण कार्य अर्थात कर्म का वर्णन करेंगे । खंडित उपदेशों के कारण इन विषयों का विकृत ज्ञान मनुष्यों को है । हमारा विश्वास है कि हमारे शिष्य ऊंचे ज्ञानों की लालसा रखते हैं, और ऐसा भी ज्ञान है जिन के सम्मुख हमारे अब तक के सिखाये ज्ञान उसी तुलना में हैं, जैसे इन की तुलना में साधारण मनुष्यों के ज्ञान हैं । हमारा विश्वास है कि ज्ञान शक्तियां हमें ऐसा पथ निर्देश करेंगी कि हम अपने संदेश को इस प्रकार सुना सकें कि जिससे लोग इसे समझें और स्वीकार करें । हम अपने शिष्यों को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने अब तक हमारा अनुसरण किया और हम उन्हें निश्चय

दिलाते हैं कि उनकी प्रेममय सहानुभूति ने हमें बड़ी सहायता और प्रतिभा प्रदान की है । आपके साथ शान्ति विराजे ।

मंत्र ।

जीवन केवल एक ही है । एक ही जीवन सर्वव्यापक है। यही जीवन मुझ में हो कर प्रगट हो रहा है और वैसे ही अन्य सूरतों, रूपों और चीजों में हो कर प्रगट हो रहा है । हम जीवन के समुद्र के वक्षस्थल पर विराजमान हैं और वही हमें सँभाल रहा है और वही हमें वहन करेगा—यद्यपि लहरें उठ रही हैं और यद्यपि तूफान आ और जा रहे हैं । मैं जीवन सागर में सुरक्षित हूँ और ज्यों ज्यों उसकी गति के हिलोरों का अनुभव करता हूँ त्यों त्यों आनन्दित होता हूँ । मुझे कोई भी वस्तु हानि नहीं पहुँचा सकती यद्यपि परिवर्तन आया और जाया करते हैं । मैं सर्व जीवन के साथ एक हूँ और उस जीवन की शक्ति, ज्ञान और शान्ति हमारे पीछे, हमारे नीचे और हमारे भीतर है । हे एकजीवन, मुझ में हो कर अपने को प्रगट करो, एक बार लहरों के मस्तक पर चढ़ा ले जाओ दूसरी बार समुद्र के गंभीरतम तल में ले जाओ पर सर्वदा सँभालते रहो—हमारे लिये सभी अच्छा है, क्योंकि तुम्हारे जीवन को अपने में और अपने में हो कर गति कर पाता हूँ । तुम्हारे ही जीवन से मैं जीवित हूँ और मैं अपने को तुम्हारे पूरे आविर्भाव और प्रवाह के लिये खोल रखता हू ।

———

योगी रामाचारकजी की योग ग्रन्थावली

ठा० प्रसिद्धनारायण सिंह द्वारा अनुवादित ।

श्वासविज्ञान अर्थात् प्राणायाम ।

सन्निविष्ट विषय:—जय हो, श्वास ही जीवन है, श्वास क्रिया पर स्थूल विचार, श्वास क्रिया पर सूक्ष्म विचार, नाड़ी संस्थान, नाक से श्वास लेना और मुँह से श्वास लेना, श्वास लेने के चार प्रकार, योगी को पूरी सांस कैसे प्राप्त होती है, पूरी सांस का शारीरिक प्रभाव, योग विद्या के कुछ अंश, योगियों की प्रधान श्वास क्रियायें, योगियों की सात छोटी कसरतें, कम्प और योगी की तालयुक्त श्वास क्रिया, मनः संयुक्त श्वास का रूप, योगी की मानसिक श्वास के और भी प्रयोग, योगी की आध्यात्मिक श्वास क्रिया कुल १२५ सफहे । मूल्य ॥)

हठयोग अर्थात् शारीरिक कल्याण ।

सन्निविष्ट विषय:—हठयोग क्या है ? शरीर पर योगी का ध्यान, दैवी कारीगर की कारीगरी, हमारा मित्र जीवन बल, शरीर की रसायनशाला, जीवन द्रव, देह में का स्मशान, पोषण, भूख और भोजनातुरता, भोजन से प्राण प्राप्त करना, देह की सिंचाई, शरीर यंत्र की राख और फुजला, योगियों की श्वास क्रिया, सही सांस लेने का प्रभाव, श्वास के अभ्यास, नाक तथा मुहँ से श्वास, शरीर के अणुजीव, प्राण शक्ति, प्राण के अभ्यास, शिथिलीकरण, योग व्यायाम, स्नान, सूर्य की शक्ति, निद्रा, नवजनन, मानसिक स्थिति, आत्मा के अनुगामी बनो । कुल २०५ सफहे । मूल्य १॥)

योगत्रयी

अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

सन्निविष्ट विषय:—

कर्मयोग में—प्रवृत्ति, योग का उद्देश्य और परिणाम, जीवन विकास, कर्म, विचार, कार्य और कारण, कामना, संसृति और असंसृति, व्यष्टि और पद्धति, दैवी प्रेरणा, सकाम और निष्काम कर्म।

ज्ञानयोग में—क्यों, किस लिये, कैसे और क्या, सत्य भीतर है, ईश्वर परमात्मा है, कार्यकारण शृंखला का आदि और अन्त परमात्मा, विश्व परमात्मा की निस्सृति, सर्व शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, परमात्मा के तीन रूप—द्रव्य शक्ति और मन, परा अभिव्यक्ति, परमात्मा के व्यंजन, गुणों की प्राप्ति, मैं ईश्वर हूँ, निस्सरण, विश्वजीवित है।

भक्तियोग में—प्रत्येक योगी भक्त उपासना का पोषण, परमात्मा विषयिक भावना परिवर्तनशील, देवता, भिन्न २ पूजाओं का एक ही आराध्य देव, गौणी भक्ति, पराभक्ति, प्रतिमा, मजहब, आनन्द, प्रेम, आवेश, प्रार्थना, परमेश्वर जीवन का केन्द्र, भक्त सुखदर्शी होता है, इत्यादि।